शाकाहार वर्ष के अन्तर्गत प्रकाशित
प्रथम आवृति – ५०००
२ फरवरी १९९२

मूल्य – पाँच रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
खेमराज प्रेमचद जैन, 'कहान – निकेतन'
खैरागढ, जि राजनाँदगाँव (म प्र) – ४९१ ८८१

पण्डित टोडरमल स्मारक भवन
ए – ४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) – ३०२ ०१५

ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन
कहान रश्मि, सोनगढ़ – ३६४ २५० जि भावनगर, (सौराष्ट्र)

मुद्रण व्यवस्था –
राकेश जैन शास्त्री, मे प्रिंटिंग हाउस
वैसाखिया मार्केट, गुड़गज, इतवारी
नागपुर (महाराष्ट्र) ४४० ००२

विषय सूची

श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला
संक्षिप्त परिचय

श्री खेमराज गिडिया

श्रीमती घुड़ीबाई गिडिया

जिनके विशेष आशीर्वाद व सहयोग से ग्रन्थमाला की स्थापना हुई तथा जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य प्रकाशित करने का कार्यक्रम सुचारु रुप से चल रहा है, उस ग्रन्थमाला के सस्थापक श्री खेमराज गिडिया का सक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं -

जन्म सन् १६१६ चादरख (जोधपुर), पिता - श्री हसराज जैन, माता -श्रीमती मेहदी बाई

शिक्षा व्यवसाय मात्र प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर, मात्र १२ वर्ष की उम्र से ही व्यवसाय में लग गए।

सत् समागम सन् १६५० में पूज्य श्री कानजी स्वामी का परिचय सोनगढ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा मात्र ३४ वर्ष की उम्र में सन् १६५३ में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ में ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली।

परिवार आपके ४ पुत्र एव २ पुत्रियाँ हैं। पुत्र - दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल एव प्रेमचन्द तथा पुत्रियाँ - ब्र. ताराबेन एव मैनाबेन । दोनों पुत्रियों ने मात्र १८ वर्ष एवँ २० वर्ष की उम्र में ही आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर सोनगढ को ही अपना स्थायी निवास बना लिया।

विशेष भावनगर पच कल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने। सन् १६५६ में खैरागढ जिन मदिर निर्माण एव पूज्य गुरुदेवश्री के शुभ हस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग, सन् १६८८ में २५ दिवसीय ७० यात्रियों सहित दक्षिण तीर्थयात्रा सघ एव अनेक सामाजिक कार्यों के अलावा अब व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकाश समय सोनगढ में रहकर आत्म-साधना में बिताते हैं।

स्व. ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म— वीर संवत् २४५१,
पौष सुदी पूनम, जेतपर (मोरबी)

सत् समागम— वीर संवत् २४६१
(पूज्य गुरुदेवश्री से) राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा— वीर संवत् २४७३
फागण सुदी १ (उम्र २३ वर्ष)

देहविलय— ८ दिसम्बर १९८७,
पौष वदी ३, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

***

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार ब्रह्मचारी हरिलाल जैन की १९ वर्ष की उम्र मे ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलनेवाले आध्यात्मिक मासिक – आत्मधर्म (गुजराती एव हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होने ३२ वर्ष तक अविरत सभाला। पूज्य स्वामीजी स्वय अनेक बार उनकी प्रशसा मुक्तकण्ठ से इसप्रकार करते थे –

"मै जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते है। हिन्दुस्थान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखनेवाला नहीं मिलेगा ।"

आपने अपने जीवन मे करीब १५० पुस्तको का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चो के लिए जैन बालपोथी के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखो की सख्या मे प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण— इसे आपने ८० पुराणो एव ६० ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओ मे प्रमुखत आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म-वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन भाग १ से ६), सम्यग्दर्शन (भाग १ से ८), जैनधर्म नी वार्ताओ (गुजराती, भाग १ से ६) अध्यात्म-सदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अकलंक-निकलक नाटक, मगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अजना आदि है।

२५०० वाँ निर्वाण महोत्सव, जैन बालपोथी एव आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि अनेक प्रसगो/कार्यो पर अनेकों बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओ द्वारा सम्मानित किया गया।

जीवन के अन्तिम समय मे आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधिपूर्वक "मैं ज्ञायक हूँ मै ज्ञायक हूँ" की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ – यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

स्मरणांजली

स्व श्री अमृतलाल काशीदास मेहता (मोरबी)
(जन्म श्रावण बदी ८, वि स १९४३, स्वर्गवास आषाढ सुदी ३, वि स २०१५)

पूज्य पिताजी,

जीवन में वैराग्य के अनेक प्रसगों के बीच आपको पहले से ही अध्यात्म-ज्ञान के सस्कार थे और श्रीमद् राजचद्रजी के द्वारा प्रदत्त तत्वज्ञान का आपको बहुत प्रेम एव गहरा अभ्यास था। मोरबी में पचास वर्ष पूर्व "श्रीमद् राजचद मुमुक्षु मडल" में आप महत्त्व के व्याख्याता थे। इस कारण से घर में चलते-फिरते "आत्मसिद्धि' इत्यादि द्वारा बचपन से ही हमको भी अध्यात्म-तत्वज्ञान का थोडा-बहुत सस्कार देते रहे – जो हमारे जीवन में बहुत उपयोगी रहा। हमारी माताजी का तो हमारे बचपन में ही वियोग हो जाने से सबको पालने की जिम्मेदारी भी आपने एव बड़ी माँ ने सभाली। यह सब उपकारों को याद करके हम सभी आपको स्मरणाजलि अर्पण करते है।

हम है आपके परिवार जन

सुपुत्र – जेवतलाल, (स्व) लक्ष्मीचद, (स्व) ब हरिलाल, (स्व) जयतिलाल

सुपुत्री – (स्व) जवलबेन, (स्व) प्रभाबेन, (स्व) हीराबेन

श्री चौवीस तीर्थंकर भगवन्तों का

महापुराण

अपने चौवीस तीर्थंकर भगवन्तों की महिमा, पूर्वभव उनके द्वारा की गई अपूर्व आत्म-साधना और परमात्मा होकर उनके द्वारा दिया गया वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश - इन सबका सुदर एव अभूतपूर्व वर्णन इस महापुराण में किया गया है। इस पढ़ते हुए अत्यधिक आनन्द होता है अपने भगवन्तों के प्रति परम बहुमान जागृत होता है और मोक्ष को साधने का उत्साह प्रगट होता है।

श्री तीर्थंकर भगवन्तों का यह महापुराण पढ़ते हुए आपकी आत्मा में एक नया ही वातावरण तैयार होगा आपको ऐसा अनुभव होगा कि मानो "मैं एक वीतरागी नगरी के पचपरमेष्ठी भगवन्तों के साथ ही रह रहा हूँ और उनके समान उत्कृष्ट जीवन जीने की कला सीख रहा हूँ। आपकी ऐसी ही उर्मियां (भावनाओं) को प्रकट करने वाले अनेकानेक प्रसग इस पुराण में बारम्बार आयेंगे . बस एक बार इसमें प्रवेश करने की देर है फिर तो इस वीतरागी नगरी में आपको इतना मजा आयगा उससे बाहर निकलना अच्छा नहीं लगेगा।

यदि आप इस महापुराण को पढ़ना चाहते हैं तो कृपया सम्पर्क करें।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन शाखा - खैरागढ़

खैरागढ़ - ४९१८८१ जिला - राजनाँदगाँव (म.प्र.) फोन ३६

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सोनगढ़ - ३६४२५० जिला - भावनगर (सौराष्ट्र)

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में प टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के माध्यम से डॉ **हुकमचन्दजी भारिल्ल** का योगदान अविस्मरणीय है। उन्हीं के मार्गदर्शन में **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन** की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ शाखा का गठन २६ दिसम्बर १९८० में प ज्ञानचदजी विदिशा के शुभहस्ते किया गया था। तब से आजतक फेडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अवश्यमेव हो रही है। इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति गोष्ठी आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय है।

साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एव निरतरता प्रदान करने हेतु सन् १९८८ में **श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला** की स्थापना की गई। साथ ही इस ग्रन्थमाला के आजीवन सरक्षक सदस्य भी बनाये जाते है, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते है।

पूज्य गुरुदेवश्री के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एव जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एव लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे **ब हरिभाई** का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिरवियोग (वीर स २५०७ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृतदेह के समीप बैठे-बैठे सकल्प किया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एव सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा – तब **'श्री कहान स्मृति प्रकाशन'** का जन्म हुआ।

गुरुदेवश्री के उपकारों की स्मृति हेतु साहित्य प्रकाशन की यह योजना सुनते ही श्री जगदीश भाई लोदरिया बम्बई श्री सुरेशचन्द जे मेहता बम्बई ब इन्दुबेन, ब ताराबेन, ब मैनाबेन, सोनगढ ने उत्साह पूर्वक इस में भाग लिया और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा लेकिन अब हिन्दी भाषा के प्रकाशनों में भी **'श्री कहान स्मृति प्रकाशन'** का सहयोग प्राप्त हो रहा है जिसके परिणास्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने है।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत **जैनधर्म की कहानियाँ** भाग १-२-३-४ तथा लघु जिनवाणी संग्रह **अनुपम संकलन** तथा **चौबीस तीर्थंकर** महापुराण के छह पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब यह सप्तम पुष्प के रूप में **"पाहुड़ दोहा – भव्यामृत शतक – आत्मसाधना सूत्र"** का यह संकलनत्रयी प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

भावी योजनाओं में भगवान हनुमान, जम्बूस्वामी चरित्र, सुदर्शन चरित्र श्रीपाल चरित्र, अकलंक-निकलंक नाटक आदि प्रकाशित करने की योजना है।

ग्रन्थ-परिचय

पाहुड़ दोहा :—सुप्रसिद्ध अध्यात्म शास्त्र श्री परमात्म प्रकाश और श्री योगसार के समान यह 'पाहुड़ दोहा' भी अपभ्रंश भाषा की एक सुंदर अध्यात्म रस झरती २२२ पद्यों की रचना है, लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन यह रचना है, इसके रचनाकार के सम्बन्ध में दो नामों का उल्लेख है। इसकी रचना शैली परमात्म-प्रकाश तथा योगसार से बहुत अधिक मिलती-जुलती होने से कितने ही विद्वान इस रचना को **मुनिराज योगीन्दुदेव की** होने का अनुमान करते हैं, तथा दोहा २११ में "मुनिवर रामसिंह कहते हैं" – ऐसा उल्लेख होने से कितने ही विद्वान **मुनि रामसिंह** की रचना मानते हैं। परमात्म प्रकाश की टीका में भी पाहुड़ दोहा का उल्लेख आता है।

यह पद्य रचना अत्यन्त मधुर एवं सरल शैली से चैतन्यदेव का गुणगान गाते हुए बर्हिमुखता छुड़ाकर अंर्तमुखता उत्पन्न कराती है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के प्रकांड विद्वान एवं षट्खंडागम जैसे महान परमागम के अनुवादक प्रो. पं. हीरालालजी ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद किया था, उसके ऊपर से मूल दोहे को स्पर्श करते हुए ब्र. हरिभाई सोनगढ़ ने गुजराती एवं हिन्दी भाषांतर तैयार किया है।

यह अनुवाद वीर सं. २५०० में यह गुजराती एवं हिन्दी आत्मधर्म में प्रकाशित हुआ है तथा परमागम चिंतामणी में पाहुड़ दोहा का विशेष आधार होने से इसकी मॉग हुई, जिससे इसे मूल दोहों के साथ प्रकाशित करने के भाव उत्पन्न हुए।

भव्यामृत शतक :—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के परम भक्त ब्र चन्दसागर वर्णी द्वारा करीब २५० वर्ष पूर्व भगवत् दृष्टि से लिखा गया कन्नड भाषा का यह छोटा-सा काव्य भव्यामृत शतक, १०८ पदों के द्वारा सम्बोधन शैली में भव्य जीवों को अध्यात्म रस का अमृत पिलाता है।

इस पुस्तक की मूल कन्नड़ प्रति "श्री कुन्दकुन्द कहान दि जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के अन्तर्गत "जैन लिटरेचर रिसर्च इन्स्टीट्यूट" बैंगलोर के द्वारा प्राप्त हुई एव कन्नड़ के विद्वान एम बी पाटिल (सेड्वाल) के द्वारा भी अनेक प्रतियाँ एव हिन्दी अनुवाद प्राप्त हुए। उसके ऊपर से सूक्ष्मदृष्टि से सभी प्रतियों का मिलान करके ब्र हरिभाई सोनगढ ने गुजराती एव हिन्दी भाषा में इसे सन् १९८५ में प्रकाशित किया था।

'भव्यामृत शतक' काव्य का कद छोटा है, परन्तु अदर रस-कस बहुत भरा है, श्रुत के बिंदु में सिधु जितना भाव भरा है, जो ज्ञान पिपासु जीवों को चैतन्य का निधान दिखला कर ज्ञान-दरिद्रता दूर कराने वाला है। आवश्यकता है इसे पढने की समझने की , गहराई से स्वाध्याय करने की — इस दृष्टि से इसका भी प्रकाशन किया जा रहा है।

आत्म साधना सूत्र :—आचार्य माघनदि का आत्म साधना सूत्र जिसमें तीन अध्यायों में कुल १७८ सूत्रों की रचना की, प्रथम अध्याय में १०० सूत्रों में आत्मा एव परमात्मा की एकरसता का चितन किया है दूसरे अध्याय में ३८ सूत्रों में सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान की सूक्ष्म प्रणाली का विवेचन किया है, तीसरे अध्याय के ४० सूत्रों में आचार्य उपाध्याय साधु पद की प्राप्ति के लिये अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यान का वर्णन है।

इस प्रकार इन तीनों अध्यायों में आत्मा की अखण्डता, निर्विकारता सिद्ध परमेष्टी से समानता आदि का सूक्ष्म विवेचन कर आत्मतत्व का गहन तत्व समझाने की पूर्ण चेष्टा की है।

आभार प्रदर्शन — मूल अपभ्रश भाषा, कन्नड़ भाषा एव अनेक हिन्दी आदि प्रतियों का सूक्ष्म अध्ययन/सशोधन करके स्व ब्र हरिभाई जैन ने इसे हिन्दी भाषा में भी अनुवाद तैयार किया है, हम उनका हृदय से आभार मानते हुये वदन करते है।

सम्पादन एव मुद्रण का सम्पूर्ण कार्य प श्री राकेश जैन शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम के साथ अल्प समय में किया, अत हम हृदय से आभार मानते है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड एव सरक्षक सदस्य के रूप में जो सहयोग राशि जिन महानुभावों की प्राप्त हुई है, उन सबका हार्दिक अभिवादन करते हुए ऐसी आशा करते है कि वे हमें भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग/प्रेरणा देते रहेंगे।

जैन समाज में सर्वत्र वीतरागता का आनदमय वातावरण फैले और अपने सर्वमान्य भगवन्तों की विशाल छत्रछाया में हम सब परस्पर वात्सल्य भाव पूर्वक आत्महित के मार्ग में प्रगति करते हुए अपने जीवन को सुशोभित करें – ऐसी हार्दिक भावना है।

- विनीत

मोतीलाल जैन — अध्यक्ष

प्रेमचद जैन — साहित्य प्रकाशन प्रमुख

ग्रन्थमाला परम सरक्षक सदस्य –

श्रीमती शान्तदेवी ध प कोमलचदजी जैन, नागपुर

ग्रन्थमाला सरक्षक सदस्य –

१ श्रीमती झनकारी बाई खेमराज बाफना, खैरागढ़
२ श्री कवरलाल मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
३ श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
४ श्रीमती ढ़ेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
५ श्री सुरेशभाई जे मेहता बम्बई, एव दिनेश भाई जे मेहता, मोरबी
६ श्री महेशभाई जे मेहता, बम्बई, एव प्रकाशभाई जे मेहता, नेपाल
७ श्री रमेशभाई जे मेहता, नेपाल एव राजेशभाई जे मेहता, मोरबी
८ श्री शैलेशभाई जे मेहता, नेपाल
९ श्रीमती बसतबेन जेवतलाल मेहता, मोरबी
१० ब्र ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़
११ स्व अमराबाई स्मरणार्थ हस्ते – श्री घेबरचद डाकलिया, राजनादगाव
१२ श्रीमती चन्दकला गौतमचंद बोथरा, भिलाई
१३ श्रीमती गुलाबबेन शातीलाल जैन, भिलाई

१४ स्व हरगोविंददास मोदी स्मरणार्थ हस्ते विजयाबेन, सोनगढ़
१५ श्रीमती चन्दकला प्रेमचद जैन, खैरागढ़
१६ श्रीमती कचनबाई दुलीचद जैन, खैरागढ़
१७ श्री प्रफुल्लचन्द सजयकुमार जैन, भिलाई
१८ स्व लुनकरण कोचर स्मरणार्थ हस्ते झीपुबाई, कटगी
१९ श्री जेठाभाई हसराजजी, सिकदराबाद
२० श्री शातीनाथ सोनाज, अकलूज
२१ स्व उजमबेन चुन्नीलाल सेठ स्मृति हस्ते ब्र सुशीलाबेन, सोनगढ़
२२ श्री लवजी बीजपाल गाला, बम्बई
२३ स्व ककुबेन रिखबदास जैन स्मृति हस्ते शातीभाई बम्बई
२४ श्री फत्तेलाल दुलीचद बरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट, राजनाँदगाँव हस्ते श्री निर्मल बरड़िया, राजनाँदगाँव
२५ एक मुमुक्षु भाई, सोनगढ़, हस्ते सुकुमालजी जैन दिल्ली
२६ श्रीमती शाताबेन शातिभाई झवेरी, बम्बई
२७ श्रीमती मूलीबेन समरथलालजी जैन, सोनगढ
२८ श्रीमती सुशीलादेवी उत्तमचद गिड़िया, रायपुर
२९ स्व रामलाल पारख, स्मृति हस्ते नथमल कानमल पारख, राजनाँदगाँव

साहित्य प्रकाशन फण्ड में प्राप्त सहयोग राशि

एक मुमुक्ष बहन हस्ते ब्र मैनाबेन	१००१/-
गुप्तदान हस्ते करुणा बहन	५०१/-
स्व ककुबेन रिखबदास बम्बई हस्ते – शातिभाई	४०१/-
शाह रायसीभाई धरमशीभाई हस्ते वेलजी भाई सिहण	३३३/-
श्रीमती निर्मलाबेन बाबूभाई जवेरी, बम्बई	२५१/-
श्रीमती हसाबेन गोसरभाई बिसारिया, देवलाली	२५१/-
ब्र ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ	२५१/-
ब्र मालतीबेन, सोनगढ	२५१/-
श्रीमती पन्नादेवी मागीलाल जैन, आगरा	२०१/-
गुप्तदान हस्ते – श्री रमेशचद जैन	२०१/-
श्रीमती रजनी देवी कमलेशकुमार जैन, खैरागढ	२०१/-
श्री कवरलाल मोतीलाल जैन, खैरागढ	२०१/-

श्रीमती कमलाबेन अमृतलाल जैन, सोनगढ	२०१/–
श्रीमती शीलाबेन दिनेश एम सलोत, बम्बई	२०१/–
श्री अभयकुमार मनुभाई कोठारी, बम्बई	२०१/–
रगून मुमुक्षु मडल, हस्ते जेठाभाई, सिकदराबाद	२०१/–
कु समता के प्रथमोपवास पर, हस्ते अभय – ममता, खैरागढ	१५१/–
ब्र इन्दुबेन कस्तुरबेन, सोनगढ	१२१/–
श्री अनूप शाह, बम्बई	१११/–
श्री सुरेशभाई एस देसाई, कलकत्ता, हस्ते – उमेदभाई	१०१/–
श्री शामजीभाई छेडा एव श्री प्रेमचन्दभाई मलाड	१०१/–
श्री आलोककुमार अशोककुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्री अवनीशकुमार पवनकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्री नीलम पवनकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्रीमती मधुदेवी पवनकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्री पवनकुमार मागीलाल जैन, आगरा	१०१/–
श्री शातिदेवी किसन भगवान जैन, आगरा	१०१/–
श्री नेहा सुनीलकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्रीमती रजनीदेवी सुनीलकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्री सुनीलकुमार वीरेन्दकुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्री अतुलकुमार अशोककुमार जैन, आगरा	१०१/–
श्रीमती ज्योतिबेन सुरेशचन्द जैन, गुना	१०१/–
कु धर्मिष्ठा रविव्रत उद्यापन, हस्ते – श्रीमती कचन बाई जैन,	१०१/–
श्री मोहनलाल इन्दरचन्द जैन खैरागढ	१०१/–
श्री भवरीलाल रतनकुमार चौधरी, यवतमाल	१०१/–
श्रीमती सरला देवी मुकेशकुमार जैन, खैरागढ	१०१/–
श्रीमती विजयाबेन हरगोविंददास मोदी, सोनगढ	१०१/–
श्री मनसुखलाल मयाचदभाई, कलकत्ता	१०१/–
श्री चितनकुमार और प्रशम मोदी, सोनगढ	६१/–
श्रीमती सरोजबेन उमेदभाई मोदी सोनगढ	५१/–
श्रीमती अनीता कस्तूरचद जैन, डोंगरगॉव	५१/–
श्री धनराज अनूपचन्द जैन, खैरागढ	५१/–

अहो अदभुत चिदानंद आतमा

आतमा आतमा आतमा रे ।
अहो। अद्‌भुत चिदानद आतमा ॥
जेने देखता थईश परमातमा रे॥
अहो, अद्‌भुत चिदानद आतमा ·॥ आतमा ॥
भूल मा भूल मा भूल मा रे।
चिदानद वस्तु ने भूल मा रे॥
पर ने पोतानी मान मा रे।
अहो अद्‌भुत चिदानद आतमा ॥ आतमा ॥
तारा मा शात था धर्मात्मा जीव था।
स्वरूप बहार तु भम मा रे॥
तारी चिदानद वस्तु ने भूल मा रे।
अहो, अदभुत चिदानद आतमा ॥आतमा ॥
सम्यग्दृष्टि था भ्रम मराडी।
आनद स्वरूपे तु लीन था रे ॥
पर ने पोतानी मान मा रे।
अहो अदभुत चिदानद आतमा ॥ आतमा ॥
आनद नो दरियो ज्ञान स्वरूपी
उछले अेमा तु मग्न था रे
तारी चिदानद वस्तु ने भूल मा रे।
अहो अदभुत चिदानद आतमा ॥ आतमा॥
आवी गयो हे अवसर बडो
शात स्वरूपे तु स्थिर था रे
तारी चिदानद वस्तु ने भूल मा रे।
अहो अदभुत चिदानद आतमा – आतमा

पाहुड-दोहा

गरू दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरू दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥१॥

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु।
परसुहु वढ चिंततहं हियइ ण फिट्टइ सोसु॥२॥

जं सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविंहि कोडि रमंतु॥३॥

आभुंजंता विसयसुह जे ण वि हियइ धरंति।
ते सासयसुहु लहु लहहिं जिणवर एम भणंति॥४॥

ण वि भुंजंता विसय सुह हियडइ भाउ धरंति।
सालिसित्थु जिम वप्पुडउ णर णरयहं णिवडंति॥५॥

ओयइं अडवड वडवडइ पर रंजिज्जइ लोउ।
मणसुद्धइं णिच्चलठियइं पाविज्जइ परलोउ॥६॥

धंधइं पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु ण वि चिंतइ अप्पाणु॥७॥

जोणिहिं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु।
पुत्तकलत्तइं मोहियउ जाम ण बोहि लहंतु॥८॥

अण्णु म जाणहि अप्पणउ घरु परियणु तणु इट्ठु।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं सिट्ठु॥९॥

जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु तं पि य दुक्खु।
पइं जिय मोहहिं वसि गयइं तेण ण पायउ मुक्खु॥१०॥

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु परियणु चिंततु।
तो इ विचिंतहि तउ जि तउ पावहि सुक्खु महंतु॥११॥

घरवासउ मा जाणि जिय दुक्कियवासउ एहु।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु ण वि संदेहु॥१२॥

'पाहुड़ दोहा' : हिन्दी अनुवाद

१ जो परपरा से आत्मा और पर का भेद दर्शाते हैं - ऐसे गुरू ही दिनकर हैं, गुरू ही हिम किरण-चन्द्र हैं, गुरू ही दीपक हैं और वे गूरू ही देव हैं।

२ हे वत्स! जो सुख आत्मा के आधीन है, उसी से तू सन्तोष कर! जो पर में सुख का चिन्तन करता है, उसके मन का सोच कभी नहीं मिटता।

३ विषयों से पराङमुख होकर अपने आत्मा के ध्यान में जो सुख होता है, वह सुख करोड़ों देविओं के साथ रमण करने वाले इन्द्र को भी नही मिल सकता।

४ विषय सुख को भोगते हुये भी जो अपने हृदय में उसको धारण नहीं करते (अर्थात् उसमें सुख नहीं मानते), वे अल्पकाल में शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं। ऐसा जिनवर कहते हैं।

५ विषयसुख का उपभोग न करते हुए भी जो अपने हृदय मे उसको भोगने का भाव धारण करते हैं, वे नर बेचारे 'शालिसिक्ख मच्छ' (तदुल मच्छ) की तरह नरक में जा पड़ते हैं।

६ लोग आपत्ति के समय मे अटपट बड़बड़ाते हैं तथा पर से रंजित हो जाते हैं, परन्तु उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होती, अपने मन की शुद्धता से तथा निश्चल स्थिरता से जीव परलोक को (परमात्मदशा को) प्राप्त करता है।

७ धन्धे मे पड़ा हुआ सकल जगत अज्ञानवश कर्म तो करता है, परन्तु मोक्ष के कारणभूत अपने आत्मा का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता।

८ जब तक यह आत्मा बोधि की प्राप्ति नहीं करता, तबतक स्त्री-पुत्रादिक में मोहित होकर दु ख सहता हुआ लाखों योनियों में परिभ्रमण करता है।

९ हे जीव! जिन्हें तू इष्ट समझ रहा है - ऐसे घर, परिजन और शरीर - ये सब पदार्थ तेरे से अन्य हैं, उन्हे तू अपना मत जान, ये सब बाह्य जजाल कर्मों के आधीन हैं - ऐसा योगियों ने आगम में बताया है।

१० हे जीव! मोह के वश में पड़कर तूने दु ख सुख मान लिया है और सुख को दु ख मान लिया है, इस कारण तूने मोक्ष नहीं पाया।

११ हे जीव! तू धन और परिजन का चिन्तन करने से मोक्ष नहीं पा सकता, अत तू अपने आत्मा का ही चिन्तन कर, जिससे तू महान सुख को पावेगा।

१२ हे जीव! उस धन-परिजन को तू गृहवास मत समझ, वह तो दुष्कृत्य का धाम है और वह यम का फैलाया हुआ फन्दा है - इसमें सन्देह नहीं।

मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहु तुस कंडि।
सिवपई णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि।।१३।।
मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु।
केवलणाणु वि परिणवइ अंबरि जाह णिवासु।।१४।।
सप्पि मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ।।१५।।
जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु करेइ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ।।१६।।
विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पाखंधि कुहाडि।।१७।।
उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिह दुज्जणउवयार।।१८।।
अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा।।१९।।
वरु विसु विसहरु वरु जलणु वरु सेविउ वणवासु।
णउ जिणधम्मपरम्मुहउ मित्थतिय सहु वासु।।२०।।
उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं विलग्ग।
वण्णर जेम पलंबचुय बहुय पडेविणु भग्ग।।२१।।
अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ।
ता पर किज्जइ काइं वढ तणु उप्परि अणुराउ।।२२।।
सो णत्थि इह पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
जिणवयणं अलहंतो जत्थ ण डुरुंडुल्लिओ जीवो।।२३।।
जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु।
सो मुणि पावइ सुक्खु ण वि सयलइं सत्थ मुणंतु।।२४।।
बोहिविवज्जिउ जीव तुहुं विवरिउ तच्चु मुणेहि।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाण भणेहि।।२५।।

१३ हे मूढजीव! बाहर की ये सब कर्मजाल है। प्रगट तुस (भूसे) को तू मत कूट! घर-परिजन को शीघ्र छोड़कर निर्मल शिवपद में प्रीति कर!

१४ आकाश (अर्थात् शुद्धात्मा) में जिसका निवास हो जाता है, उसका मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोश्वास छूट जाता है और वह केवलज्ञानरूप परिणमता है।

१५ सर्प बाहर मे केचुली को तो छोड़ देता है, परन्तु भीतर के विष को नही छोड़ता, उसी प्रकार अज्ञानीजीव द्रव्यलिंग धारण करके बाह्यत्याग तो करता है, परन्तु अन्तर में से विषयभोगों की भावना का परिहार नहीं करता।

१६ जो मुनि छोड़े हुए विषयसुखों की फिर से अभिलाषा करता है, वह मुनि केशलोचन एव शरीरशोषण के क्लेश को सहन करता हुआ भी ससार में ही परिभ्रमण करता है।

१७ ये विषयसुख तो दो दिन रहनेवाले क्षणिक हैं, फिर तो दु खों की ही परिपाटी है। इसलिये हे जीव! भूल कर तू अपने ही कन्धे पर कुल्हाड़ी मत मार।

१८ जैसे दुश्मन के प्रति किये गये उपकार बेकार जाते हैं, वैसे हे जीव! तू इस शरीर को स्नान कराता है, तैलमर्दन कराता है तथा सुमिष्ट भोजन खिलाता है, वे सब निरर्थक जानेवाले हैं अर्थात् यह शरीर तेरा कुछ भी उपकार करने वाला नहीं है, अत. तू इसकी ममता छोड़ दे।

१९ अस्थिर, मलिन और निर्गुण - ऐसी काया से यदि स्थिर, निर्मल तथा सारभूत गुणवाली क्रिया क्यों न की जाय? (अर्थात् यह शरीर विनाशी, मलिन एव गुणरहित है, उसकी ममता छोड़कर उसमें स्थित अविनाशी, पवित्र एव सारभूत गुणवाले आत्मा की भावना करना चाहिए।)

२० विष भला, विषधर भी भला, अग्नि या वनवास का सेवन भी अच्छा, परन्तु जिनधर्म से विमुख ऐसे मिथ्यादृष्टियों का सहवास अच्छा नहीं।

२१. जो जीव मूलगुणों का उन्मूलन करके उत्तरगुणों में सलग्न रहता है, वह डाली से चूके हुए बन्दर की तरह नीचे गिरकर भग्न होता है। (मूलगुण से भ्रष्ट जीव साधुपने से भ्रष्ट होता है।)

२२ यदि तूने आत्मा को नित्य एव केवलज्ञानस्वभावी जान लिया तो फिर हे वत्स! शरीर के ऊपर तू अनुराग क्यों करता है?

२३ यहाँ चौरासी लाख योनियों के मध्य में ऐसा कोई प्रदेश बाकी नहीं रहा कि जहाँ जिनवचन को न पाकर इस जीव ने परिभ्रमण न किया हो!

२४ जिसके चित्त में ज्ञान का विस्फुरण नहीं हुआ है, तथा जो कर्म के हेतु (पुण्य-पाप) को ही करता है, वह मुनि सकल शास्त्रों को जानता हुआ भी सच्चे सुख को नहीं पाता।

२५ बोधिसे विवर्जित (रहित) ह जीव! तू तत्त्व को विपरीत मानता है, क्योंकि कर्मों से निर्मित भावों को तू आत्मा का समझता है।

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं मि विभिण्णउ वण्णि।
हउं तणुअंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि।।२६।।
ण वि तुहुं पंडिउ मुक्खु ण वि ण वि ईसरु ण वि णीसु।
ण वि गुरु कोइ वि सीसु ण वि सव्वइं कम्मविसेसु।।२७।।
ण वि तुहुं कारणु कज्जु ण वि ण वि सामिउ ण वि भिच्चु।
सूरउ कायरु जीव ण वि ण वि उत्तमु ण वि णिच्चु।।२८।।
पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्मु अहम्मु ण काउ।
एक्क वि जीव ण होहि तुहुं मिल्लिवि चेयणभाउ।।२९।।
ण वि गोरउ ण वि सामलउ ण वि तुहुं एक्क वि वण्णु।
ण वि तणुअंगउ थूलु ण वि एहउ जाणि सवण्णु।।३०।।
हउं वरु बंभणु ण वि वइसु णु खत्तिउ ण वि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि एहउ जाणि विसेसु।।३१।।
तरुणउ बूढउ बालु हउं सूरउ पंडित दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवडउ एहउ चिंति म सव्वु।।३२।।
देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि।।३३।।
देहहि उब्भउ जरमरणु देहहि वण्ण विचित्त।
देहहो रोया जाणि तुहुं देहहि लिंगई मित्त।।३४।।
अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंगई वण्ण।
णिच्छइ अप्पा जाणि तुहुं जीवहो णेक्क वि सण्ण।।३५।।
कम्महं केरउ भावडउ जइ अप्पाण भणेहि।
तो वि ण पावहि परमपउ पुणु संसारु भमेहि।।३६।।
अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं झावहि सुद्धसहाउ।।३७।।
वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ।।३८।।
तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवणु एउ।
जिणवरि दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ।।३९।।

२६ मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं विभिन्न वर्णवाला हूँ, मैं दुर्बलांग हूँ, मैं स्थूल हूँ - ऐसा हे जीव! तू मत मान।

२७ तू न पण्डित है न मूर्ख, न ईश्वर है न सेवक, न गुरू है न शिष्य - ये सब विशेषतायें कर्मजनित हैं। (स्वभाव से सर्व जीव एकसमान ज्ञानस्वरूपी हैं।)

२८ हे जीव! तू न किसी का कारण है न कार्य, न स्वामी है न सेवक, न शूर है न कायर, और न उत्तम है न नीच।

२९ पुण्य-पाप, काल, आकाश धर्म, अधर्म एव काया - ये भी तू नही, हे जीव! चेतनभाव को छोड़कर इनमें से एक भी तू नहीं है। (जीव के अशुद्ध भाव तथा पाँच अजीव - इनसे भिन्न शुद्ध चेतनभाव ही तू है।)

३० तू न गोरा है न श्याम, एक भी वर्णवाला तू नही है, दुर्बल शरीर या स्थूल शरीर वह भी तू नहीं है - ये तो सब वर्णसहित (जड़) हैं, तेरा स्वरूप उनसे भिन्न समझ!

३१ न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, न वैश्य हूँ, क्षत्रिय या अन्य भी मैं नहीं हूँ, उसी प्रकार पुरूष, नपुसक या स्त्री भी मैं नहीं हूँ - ऐसा विशेष जान।

३२ मैं तरूण हूँ, बूढा हूँ, बालक हूँ, दिव्य पण्डित हूँ, क्षपणक अर्थात् दिगम्बर हूँ, वन्दक या श्वेताम्बर हूँ - ऐसा कुछ भी चिन्तन तू मत कर।

३३ हे जीव! देह का जरा-मरण देखकर तू भय मत कर, अपने आत्मा को तू अजर-अमर परम-ब्रह्म जान।

३४ जरा तथा मरण ये दोनों देह के हैं, विचित्र वर्ण भी देह के ही हैं और हे जीव! रोग को भी तू शरीर का ही जान, एव लिग भी शरीर के ही हैं।

३५ हे आत्मन्! निश्चय से तू ऐसा जान कि इनमें से एक भी सज्ञा जीव की नहीं है, जरा या मरण ये दोनो जीव के नहीं हैं, रोग नहीं हैं तथा लिग या वर्ण भी नहीं है।

३६ हे जीव! यदि तू कर्म के भावकी आत्मा का कहता है तो परमपद को तू नहीं पा सकेगा, बल्कि अब भी ससार मे ही भ्रमण करेगा।

३७ ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब भाव पराये है, उन्हे छोड़कर हे जीव! तू शुद्ध स्वभाव का ध्यान कर।

३८ जो वर्ण से रहित है, जो ज्ञानमय है, जो सद्भाव को भाता है, वही शिव है (कल्याणरूप है), अत उसी में अनुराग करो।

३९ तीन भुवन (लोक) मे देव तो जिनवर ही दिखता है और जिनवरदेव में ये तीन भुवन दिखते हैं, जिनवर के ज्ञान में सकल जगत दृष्टिगोचर होता है, उसमें कोई भेद न करना चाहिए।

बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झउ हलि अण्णु।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु॥४०॥

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु।
णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु॥४१॥

उपलाणहिं जोइय करहुलउ।
दावणु छोडहि जिम चरइ।
जसु अखइणि रामइं गयउ मणु।
सो किम बुहु जगि रइ करइ॥४२॥

ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि।
एक्क णिवारहि जीहडिय अण्ण पराइय णारि॥४३॥

पंच बलद्द ण रक्खियइं।
णंदणवणु ण गओ सि।
अप्पु ण जाणिउ ण वि परु।
वि एमइ पव्वइओ सि॥४४॥

पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स॥४५॥

मणु जाणइ उवएसडउ जहिं सोवेइ अचिंतु।
अचित्तहो चित्तु जो मेलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु॥४६॥

वट्टडिया अणुलग्गयहं अग्गउ जोयंताहं।
कंटउ भग्गइ पाउ जइ भज्जउ दोसु ण ताहं॥४७॥

मिल्लहु मिल्लहु मोक्कलउ
जहिं भावइ तहिं जाउ।
सिद्धिमहापुरि पइसरउ
मा करि हरिसु विसाउ॥४८॥

४० कोई कहता है कि हे जीवों! तुम जिन को जानो जानो! किन्तु यदि ज्ञानमय आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न जान लिया, तो भला! और क्या जानने का शेष रहा ?

४१ कोई कहता है कि हे जीवों! तुम जिनवर को वन्दो जिनवर को वन्दो! परन्तु यदि अपने देह मे ही स्थित परमार्थ को जान लिया, तो फिर भला अन्य किसकी वन्दना करना शेष रहा ?

४२ जिसप्रकार हाथी का बच्चा अथवा ऊँट कमल को देखकर अपना बन्धन तोड़कर विचरण करने लगते हैं, उसप्रकार जिसका मन अक्षयिनी-रामा (मुक्तिरमणी) मे लगा हुआ है - ऐसा बुधजन जगत (ससार-बन्धन) में रति कैसे करे ? (अर्थात् वह ससार के बन्धन तोड़कर मोक्षमार्ग मे विचरता है।)

(दूसरा अर्थ) अक्षय ऐसी मोक्षसुन्दरी मे जिसका चित्त लगा है, वह बुधजन ससार में रति क्यों करे ? अत हे जीव! तू ऊँट के ऊपर पलान रख और उसके बन्धन खोल दे, जिससे कि वह मोक्ष की ओर आगे बढ़े।

४३ हे जीव! पाँच इन्द्रियों के सम्बन्ध मे तू ढीला मत हो। (उग्रता से उन्हें वश मे रख।) इनमें भी दो का निवारण कर, एक तो जीभ को रोक और दूसरी पराई नारी को छोड़।

४४ रे जीव! तूने न तो पाँच बैल रखे, और न कभी तू नन्दनवन मे गया, यों ही परिव्राजक कैसे बन गया ? वैसे तूने न तो आत्मा को जाना, न पर को जाना - ऐसे ही परिव्राजक बन बैठा! (जिसने पाँच इन्द्रियरूपी बैल को वश में नहीं किया और न स्व-पर का भेदज्ञान करके चैतन्य के नन्दनवन में प्रवेश किया, उसको प्रव्रज्या नहीं होती।)

४५ हे सखी! पियु को तो बाहर में पाँच का स्नेह लगा है, जो दुष्ट अन्य के साथ मिला हुआ है, उसका स्वघर में आगमन नहीं दीखता। (पाँच इन्द्रियों के विषय मे फँसा हुआ जीव स्वपरिणति के आत्मिक आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता।)

४६ मन चिन्तारहित-निश्चिन्त होकर जब सो जाता है (अर्थात् एकाग्र होकर थम जाता है) तभी वह उपदेश को समझ सकता है और अचित वस्तु से अपने चित्त को जो अलग करता है, वही निश्चिन्त होता है।

४७ जो आगे देखता हुआ मार्ग में (ध्येय के सम्मुख) चल रहा है, उसके पैर में कदाचित् काँटा लग जाय तो लग जावे, इसमें उसका दोष नहीं है। (अर्थात् साधक को पूर्वकृत कोई अशुभ उदय आ जाये तो इसमे वर्तमान आराधना का तो कोई दोष नहीं है।)

४८ उसे स्वतत्र छोड़ दो मुक्त कर दो स्वाधीनता से उसे जहाँ जाना हो वहाँ जाने दो, सिद्धि-महापुरी की ओर उसे आगे बढ़ने दो। कुछ हर्ष-विषाद न करो। (आत्मा को इन्द्रिय-विषयों के बन्धन से मुक्त करके मोक्षपुरी की ओर आनन्द से जाने दो। जो मन पाँच इन्द्रिय के विषय से मुक्त हुआ, वह सिद्धपुरी की ओर अग्रसर होता है।)

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स।।४९।।

आराहिज्जइ देउं परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ।।५०।।

अम्मिए जो परु सो जि परु परु अप्पाण ण होइ।
हउं डज्झउ सो उव्वरइ वलिवि ण जोवइ तो इ।।५१।।

मूढा सरलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ।
जीवहु जंत ण कुडि गइय इउ पडिछंदा जोइ।।५२।।

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ।।५३।।

जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु।।५४।।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु।
दोहिं मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु।।५५।।

अण्णु तुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ।
संकप्पवियप्पिउ णाणमउ दड्ढउ चित्तु वराउ।।५६।।

णिच्चु णिरामउ णाणमउ परमाणंदसहाउ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परु तासु ण अण्णु हि भाउ।।५७।।

अम्हहिं जाणिउ एक्कु जिणु जाणिउ देउ अणंतु।
णवरिसु मोहें मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु।।५८।।

अप्पा केवलणाणमउ हियडइ णिवसइ जासु।
तिहुयणि अच्छइ मोक्कलउ पाउ ण लग्गइ तासु।।५९।।

चिंतइ जंपइ कुणइ ण वि जो मुणि बंधणहेउ।
केवलणाणफुरंततणु सो परमप्पउ देउ।।६०।।

अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण।।६१।।

४९ मन तो परमेश्वर में मिल गया और परमेश्वर मन से मिल गया, दोनों एक रस - समरस हो रहे हैं, तब मैं पूजन सामग्री किसको चढाऊँ ?

५० रे जीव! तू देव का आराधन करता है, परन्तु तेरा परमेश्वर कहीं चला गया ? जो शिव-कल्याणरूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है, उसको तू कैसे भूल गया ?

५१ अहो, जो पर है सो पर ही है, पर कभी आत्मा नहीं होता।शरीर तो दग्ध होता है और आत्मा ऊपर चला जाता है, वह पीछे मुड़कर भी नहीं देखता। (इस प्रकार देह और आत्मा के बीच सर्वथा भिन्नता है।)

५२ रे मूढ! ये सब (शरीरादिक का सयोग) तो कर्मजजाल हैं, वे कोई निष्कर्म नहीं है। (अर्थात् स्वाभाविक नहीं है।) देख! जीव चला गया, किन्तु देहकुटीर उसके साथ नहीं गई - इस दृष्टान्त से दोनों की भिन्नता देख।

५३ देहरूपी देवालय में जो शक्ति सहित देव वास करता है, हे योगी! वह शक्तिमान शिव कौन है ? इस भेद को तू शीघ्र ढूँढ।

५४ जो न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है, जो सबसे पर, कोई अनत है, त्रिभुवन का स्वामी है और ज्ञानमय है, वह शिवदेव है - ऐसा तुम निर्भ्रान्त जानो।

५५ शिव के बिना शक्ति का व्यापार नहीं हो सकता और शक्तिविहीन शिव भी कुछ कर नहीं सकता, इन दोनों का मिलन होते ही मोह का नाश होकर सकल जगत का बोध होता है। (गुण-गुणी सर्वथा भिन्न रहकर कुछ कार्य कर सकते नहीं, दोनों अभेद होकर ही कार्य कर सकते हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप और जैन-सिद्धात है।)

५६ तेरा आत्मा ज्ञानमय है, उसके भाव को जबतक नहीं देखा, तबतक चित बेचारा दग्ध और सकल्प-विकल्प सहित अज्ञान-रूप प्रवर्तता है।

५७ नित्य, निरामय, ज्ञानमय परमानदस्वभाव-रूप उत्कृष्ट आत्मा जिसने जान लिया, उसको अन्य कोई भाव नहीं रहता। अर्थात् ज्ञान से अन्य समस्त भावों को वह दूसरे का समझता है।)

५८ हमने एक जिन को जान लिया तो अनत देव को जान लिया, इसके जाने बिना मोह से मोहित जीव दूर भ्रमण करता है।

५९ केवलज्ञानमय आत्मा जिसका हृदय मे निवास करता है, वह तीन लोक में मुक्त रहता है, और उसे कोई पाप नहीं लगता।

६० जो मुनि बन्धन के हेतु को न चितन करता है, न कहता है और न करता है, (अर्थात् मन से, वचन से और काया से बध के हेतु का सेवन नहीं करता) वही केवलज्ञान से स्फुरायमान शरीरवाला परमात्मदेव है।

६१ यदि अभ्यतर चित्त मैला है तो बाहर के तप से क्या लाभ ? अत हे भव्य! चित्त में कोई ऐसे निरजन तत्त्वको धारण करो कि जिससे वह मैल से मुक्त हो जाय।

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसयकसायहिं जंतु।
मोक्खह कारणु एत्तडउ अवरइं तंतु ण मंतु॥६२॥

खंतु पियंतु वि जीव जइ पावहि सासयमोक्खु।
रिसहु भडारउ किं चवइ सयलु वि इंदियसोक्खु॥६३॥

देहमहेली एह वढ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिण सिहुं समरसि होइ ण जाम॥६४॥

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ सव्व वियप्प हणंतु।
सो किम पावइ णिच्चसुहु सयलइं धम्म कहंतु॥६५॥

जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिंत चवेवि।
सो पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि॥६६॥

अप्पा मिल्लिवि गुणणिलउ अण्णु जि झायहि झाणु।
वढ अण्णाणविमीसियहं कहं तहं केवलणाणु॥६७॥

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सयलु ववहारु।
एक्कु सु जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारु॥६८॥

अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु।
इय जाणेविणु जोइयहु छंडहु मायाजालु॥६९॥

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ जो परदव्वि रमंति।
अण्णु कि मिच्छादिट्ठियहं मत्थइं सिंगइं होंति॥७०॥

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु।
जिं मरगउ परियाणियउ तहु किं कच्चहु गण्णु॥७१॥

सुहपरिणामहिं धम्मु वढ असुहइं होइ अहम्मु।
दोहिं मि एहिं विवज्जियउ पावइ जीउ ण जम्मु॥७२॥

सइं मिलिया सइं विहडिया जोइय कम्म णिभंति।
तरलसहावहिं पथियहिं अण्णु कि गाम वसंति॥७३॥

अण्णु जि जीउ म चिंति तुहुं जइ वीहउ दुक्खस्स।
तिलतुसमित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स॥७४॥

अप्पाए वि विभावियइं णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासइ तिमिरहरु एक्कल्लउ णिमिसेण॥७५॥

६२ विषय-कषायों में जाते हुए मन को रोककर निरजन तत्त्व में स्थिर करो। बस! इतना ही मोक्ष का कारण है, दूसरा कोई तत्र या मत्र मोक्ष का कारण नहीं है।

६३ अरे जीव! यदि तू खाता-पीता हुआ भी शाश्वत मोक्ष को पा जाय तो भट्टारक ऋषभदेव ने सकल इन्द्रिय-सुखों को क्यों त्यागा?

६४ हे वत्स! जब तक तेरा चित्त निरंजन परमतत्त्व के साथ समरस-एकरस नही होता, तब तक ही देहवासना तुझे सताती है।

६५ जिसका मन मे, सब विकल्पों का हनन करने वाला ज्ञान स्फुरायमान नहीं होता, वह अन्य सब धर्मों को करे तो भी नित्य सुख कैसे पा सकता है?

६६ सब चिंताओं को छोड़कर जिसके मन में परमपद का निवास हो गया, वह जीव आठ कर्मों का हनन करके परमगति को पाता है।

६७ तू गुणनिलय आत्मा को छोड़कर ध्यान मे अन्य को ध्याता है, परन्तु हे मूर्ख! जो अज्ञान से मिश्रित है, उसमे केवलज्ञान कहाँ से होगा?

६८ केवल आत्मदर्शन ही परमार्थ है और सब व्यवहार है। तीन लोक का जो सार है - ऐसे एक इस परमार्थ को ही योगी ध्याते हैं।

६९ आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है, अन्य सब जजाल है - ऐसा जानकर हे योगीजनों! मायाजाल को छोड़ो।

७० जगतिलक आत्माको छोड़कर जो परद्रव्य मे रमण करते हैं तो क्या मिथ्यादृष्टियों के माथे पर सीग होते होंगे? (अर्थात् श्रेष्ठ आत्मा को छोड़कर पर मे रमण करते है, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।)

७१ हे मूढ़! जगतिलक आत्मा को छोड़कर तू अन्य किसी का ध्यान मत कर। जिसने मरकत मणि को जान लिया, वह क्या काँच को कुछ गिनता है?

७२ हे वत्स! शुभ परिणाम से धर्म (पुण्य) होता है, और अशुभ परिणाम से अधर्म (पाप) होता है, (इन दोनोसे तो जन्म होता है) किन्तु इन दोनों से विवर्जित जीव पुन जन्म धारण नहीं करता, मुक्ति प्राप्त करता है।

७३ हे योगी! कर्म तो स्वय मिलते हैं और स्वय बिछुड़ते हैं (क्षणभगुर हैं) ऐसा नि शक जान - क्या चचलस्वभाव के पथिकों से कहीं गाँव बसते हैं? (जिसप्रकार पथिक तो रास्ते मे मिलते हैं और बिछुड़ते हैं, उनसे कहीं गाँव नहीं बसते, उसी प्रकार सयोग-वियोगरूप ऐसे क्षणभगुर पुद्गल-कर्मों से चैतन्य का नगर नहीं बसता। आत्मा को ये कर्मों के सयोग-वियोग से भिन्न जानो।)

७४ हे जीव! यदि तू दु खसे भयभीत है तो अन्यको जीव मत मान (दूसरे जीव को तेरे से भिन्न जान) तथा अन्य का चितन मत कर, क्योंकि तिल के तुषमात्र भी शल्य अवश्य वेदना करती है।

७५ जैसे सूर्य घोर अन्धकार को एक निमेषमात्र में नष्ट कर देता है, उसीप्रकार आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण मे नष्ट हो जाते हैं।

जोइय हियडइ जासु पर एकु जि णिवसइ देउ।
जम्मणमरणविवज्जियउ तो पावइ परलोउ।।७६।।

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
परमणिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ।।७७।।

पाउ वि अप्पहिं परिणवइ कम्मइं ताम करेइ।
परमणिरंजणु जाम ण वि णिम्मलु होइ मणेइ।।७८।।

अण्णु णिरंजणु देउ पर अप्पा दंसणणाणु।
अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु।।७९।।

ताम कुतित्थइ परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति।।८०।।

लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्ख मुणेहि।
गुरुहुं पासाएं जाम ण वि अविचल बोहि लहेहि।।८१।।

उप्पज्जइ जेणं विबोहु ण वि बहिरण्णउ तेण णाणेण।
तइलोयपायडेण वि असुंदरो जत्थ परिणामो।।८२।।

तासु लीह दिढ दिज्जइ जिम पढियइ तिम किज्जइ।
अह व ण गम्मागम्मइ तासु भजेसहिं अप्पुणु कम्मइं।।८३।।

वक्खाणडा करंतु बुहु अप्पि ण दिण्णु णु चित्तु।
कणहिं जि रहिउ पयालु जिम पर संगहिउ बहुत्तु।।८४।।

पंडिय पडिय पंडिया कण छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि।।८५।।

अक्खरडेहिं जि गव्विया कारणु ते ण मुणंति।
वंसविहत्था डोम जिम परहत्थडा धुणंति।।८६।।

णाणतिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण।
जा सुंधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण।।८७।।

सयलु वि को वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं णिम्मलएण।।८८।।

केवलु मलपरिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ।
तस उरि सतु जगु संचरइ परइ ण कोइ वि जाइ।।८९।।

७६ हे योगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक परमदेव निवास करता है, वह नरलोक को (सिद्ध पद को) प्राप्त करता है।

७७ जो जीव पुराने कर्मों को खपाता है, नये कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता, तथा जो परम निरजन तत्त्व को नमस्कार करता है, वह स्वय परमात्मा बन जाता है।

७८ आत्मा जबतक निर्मल होकर परम निरजनस्वरूप को नहीं जानता, तब तक ही वह पापरूप परिणमता है और तभी तक कर्मों को बाँधता है।

७९ आत्मा ही उत्कृष्ट निरजनदेव है, आत्मा ही दर्शन-ज्ञान है, आत्मा ही सच्चा मोक्षपथ है - ऐसा हे मूढ़! तू जान।

८० लोक कुतीर्थ मे तभी तक परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं, जब तक वे गुरू के प्रसाद से देह में ही रहे हुए देव को नही जान लेते ।

८१ हे जीव! तभी तक तू लोभ से मोहित होकर विषयों मे सुख मानता है - जब तक गुरूप्रसाद से अविचल बोध को नही पाता।

८२ जिससे विशेष बोध (भेदज्ञान) उत्पन्न न हो - ऐसे तीनलोक सबधी ज्ञान से भी जीव बहिरात्मा ही रहता है और उसका परिणाम असुन्दर है - अच्छा नहीं।

८३ आत्मा और कर्म के बीच मे भेदज्ञान की दृढ रेखा खींच लेना चाहिये अर्थात् जैसा पढा वैसा करना चाहिये, चित्त को इधर-उधर भटकाना नहीं चाहिये - ऐसा करनेवाले की आत्मा में से कर्म दूर हो जाते हैं।

८४ जो बिद्वान आत्मा का व्याख्यान तो करते हैं, परन्तु अपना चित्त उसमें नही लगाते तो उन्होंने अनाज के कणों से रहित बहुत-सा पयाल सग्रह किया।

८५ पंडितों में पंडित ऐसा हे पंडित! यदि तू ग्रथ और उसके अर्थों में ही सतुष्ट हो गया है, किन्तु परमार्थ-आत्मा को जानता नहीं तो तू मूर्ख है, तूने कण को छोड़कर तुष को ही कूटा है।

८६ जो मोक्ष के सच्चे कारण को तो जानते नहीं, और मात्र अक्षर के ज्ञान से ही गर्वित होकर घूमते हैं, वे तो जैसे वश के बिना वेश्यापुत्र जहाँ-तहाँ हाथ लबाकर भीख माँगता भटकता है- उसके जैसे हैं।

८७ हे वत्स! बहुत पढने से क्या है? तू ऐसी ज्ञानचिनगारी प्रगटाना सीख ले - जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप को क्षणमात्र में भस्म कर दे।

८८ सभी कोई सिद्धत्व के लिये तड़फड़ाते हैं, पर उस सिद्धत्व की प्राप्ति चित की निर्मलता से ही होती है।

८९ मलरहित ऐसे केवली अनादि स्थित हैं, उनके अतर में (ज्ञान मे) समस्त जगत् सचार करता है, परन्तु उनके बाहर कोई भी नहीं जा सकता।

अप्पा अप्पि परिट्ठियउ कहिँ मि ण लग्गइ लेउ।
सव्वु जि दोसु महंतु तसु जं पुणु होइ अछेउ ।।९०।।

जोइय जोएं लइयइण जइ धंधइ ण पडीसि।
देहकुडिल्ली परिखिवइ तुहुं तेमइ अच्छेसि ।।९१।।

अरि मणकरह म रइ करहि इंदियविसयसुहेण।
सुक्खु णिरंतरु जेहिं ण वि मुच्चहि ते वि खणेण ।।९२।।

तूसि म रूसि म कोहु करि कोहें णासइ धम्मु।
धम्मिं णट्ठिं णरयगइ अह गउ माणुसजम्मु ।।९३।।

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालह णा हि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ।।९४।।

अप्पापरहं ण मेलयउ मणु मोडिवि सहस त्ति।
सो वढ जोइय किं करइ जासु ण एही सत्ति ।।९५।।

सो जोयउ जो जोगवइ णिम्मलि जोइय जोइ।
जो पुणु इंदियवसि गयउ सो इह सावयलोइ ।।९६।।

बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ।।९७।।

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जि जरमरणक्खयं कुणहि ।।९८।।

णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ।
तसु कारणि आणी माहू जेण गवंगउ संठियउ ।।९९।।

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ।।१००।।

सव्वहिं रायहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ।।१०१।।

तव तणुअं मि सरीरयहं संगु करि ठ्ठिउ जाहं।
ताहं वि मरणदवक्कडिय दुसहा होइ णराहं ।।१०२।।

देह गलंतहं सवु गवइ मइ सुइ धारण धेउ।
तहिं तेहइं वढ अवसरहिं विरला सुमरहिं देउ ।।१०३।।

९० जब आत्मा आत्मा में ही परिस्थित हो जाता है, तब उसे कोई लेप नहीं लगता, और उसके जो कोई महादोष हों, वे भी सब नाश हो जाते हैं।

९१ हे योगी! योग लेकर फिर यदि तू धधे में नहीं पड़ेगा तो जिसमें तू रहता है, उस देहरूप कुटीर का क्षय हो जायगा और तू तो अक्षय रहेगा।

९२ रे मनरूपी हाथी! तू इन्द्रिय-विषय के सुखों में रति मत कर। जिनसे निरतर सुख पहीं मिलता, उनको तू क्षणमात्र मे छोड़ दे।

९३ न राजी हो, न रोष कर, न क्रोध कर। क्रोध से धर्म का नाश होता है, धर्म के नाश होने से नरकगति होती है तथा मनुष्यजन्म निष्फल जाता है।

९४ साढे तीन हाथ की देह में सत-निरजन बसता है, बालजीव उसमे प्रवेश कर सकते नहीं, तू निर्मल होकर उसको ढूँढ।

९५ मन को सहसा मोड़ लेने से (स्वसन्मुख करने से) आत्मा और पर का मिलान नहीं होता, परन्तु जिसकी इतनी भी शक्ति नहीं है - वह मूर्ख योगी क्या करेगा?

९६ योगी जो निर्मल ज्योति को जगाते हैं वही योग है, किन्तु जो इन्द्रियों के वश हो जाता है वह तो श्रावकलोक है।

९७ हे जीव! तू बहुत पढा, पढ-पढकर तेरा तालू भी सूख गया, फिर भी तू मूर्ख ही रहा। अब तू एक ही उस अक्षर को पढ कि जिससे शिवपुरी में गमन हो।

९८ श्रुतियोंका अत नही है, काल थोड़ा है और हम मदबुद्धि हैं, अत केवल इतना ही सीखना योग्य है कि जिससे जन्म-मरण का क्षय हो।

९९ निर्लक्षण (इंद्रियगाह्य लक्षणों से पार), स्त्री से रहित और जिसके कोई कुल नहीं है - ऐसा आत्मा मेरे मनमें बस गया है, जिससे अब इन्द्रिय-विषयों में सस्थित मेरा मन वहाँ से पीछे हट गया है।

१०० मैं सगुण हूँ और मेरा पियु तो निर्गुण, निर्लक्षण तथा निसग है, अत वे एक ही अग मे बसते हुए भी उनका एक दूसरे के अग से अग का मिलन नहीं होता। (रजोगुण-तमोगुण आदि गुणवाली विकारी पर्याय और शुद्ध आत्मपियु - ये दोनों एक वस्तु मे रहते हुए भी उनकी एकरूपता नही होती - ऐसा भाव समझ मे आता है।

१०१ जिसका चित सर्व रागों में, छह रसो मे व पाँच रूपो मे रंजित नही है ऐसे योगी को हे जीव! तू इस भुवनतल में अपना मित्र बना।

१०२ जिसका तप थोड़ा भी शरीर का सग करके स्थित है (अर्थात् जो तप करते हुए भी शरीर का महत्व रखता है) उस मनुष्य को भी मरण के दुस्सह दावानल सहन करना पड़ता है।

१०३ जब देह गलती है तब मति-श्रुत की धारणा-ध्येय सब गलने लगता है, हे वत्स! तब उस अवसर मे देव का स्मरण तो कोई विरले ही करते हैं।

उम्मणि थक्का जासु मणु भग्गा भूवहिं चारु।
जिम भावइ तिम संचरउ ण वि भउ ण वि संसारु ॥१०४॥

जीव वहंति णरयगइ अभयपदाणें सग्गु।
वे पह जवला दरिसियइं जहिं भावइ तहिं लग्गु ॥१०५॥

सुक्खअडा दुइ दिवहडइं पुणु दुक्खहं परिवाडि।
हियडा हउं पइं सिक्खवमि चित्त करिज्जहि वाडि ॥१०६॥

मूढा देह म रज्जियइ देह ण अप्पा होइ।
देहहं भिण्णु णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥१०७॥

जेहा पाणहं झुंपडा तेहा पुतिए काउ।
तित्थु जि णिवसइ पाणिवइ तहिं करि जोइय भाउ ॥१०८॥

मूलु छंडि जो डाल चडि कहं तह जोयाभासि।
चीरु ण वुणणहं जाइ वढ विणु उट्ठियइं कपासि ॥१०९॥

सव्ववियप्पहं तुट्टहं चेयणभावगयाहं।
कीलइ अप्पु परेण सिहु णिम्मलझाणठियाहं ॥११०॥

अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइं देविणु लक्खु।
जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु ॥१११॥

करहा चरि जिणगुणथलिहिं तव विल्लडि१ पगाम।
विसमी भवसंसारगइ उल्लूरियहि ण जाम ॥११२॥

तव दावणु वय भियमडा समदम कियउ पलाणु।
संजमघरहं उमाहियउ गउ करहा णिव्वाणु ॥११३॥

एक्क ण जाणहि वट्टडिय अवरु ण पुच्छहि कोइ।
अट्ठवियड्डहं डुंगरहं णर भंजंता जोइ ॥११४॥

वट्ट जु छोडिवि मउलियउ सो तरुवरु अकयत्थु।
रीणा पहिय ण वीसमिय फलहिं ण लायउ हत्थु ॥११५॥

छहदंसणधंधइ पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति ॥११६॥

अप्पा मिल्लिवि एक्कु पर अण्णु वइरिउ कोइ।
जेण विणिम्मिय कम्मडा जइ पर फेडइ सोइ ॥११७॥

१०४ जिसका पवित्र मन संसार के सुन्दर पदार्थों से भाग कर, मन से पार ऐसे चैतन्यस्वरूप मे लग गया, फिर वह कहीं भी सचार करे तो भी उसे न भय है, न ससार।

१०५ जीवों के वध से नरकगति होती है और अभय प्रदान करने से स्वर्ग। जाने के लिये ये दो पथ तुमको बतला दिये, अब इनमें से जो अच्छा लगे, उसमें तुम लग जाओ।

१०६ इस ससार में इन्द्रिय सुख तो दो दिन के हैं, फिर तो दु खों की ही परिपाटी है, इस कारण हे हृदय! मैं तुझे सिखाता हूँ कि तेरे चित को तू बाड़ लगा अर्थात् मर्यादा में रख, और उसको सच्चे मार्ग मे लगा।

१०७ हे मूढ! देह मे रजायमान न हो, देह आत्मा नहीं है। देहसे भिन्न ज्ञानमय ऐसे आत्मा को तू देख।

१०८ अरे, यह मूर्त काया तो घास की झोपड़ी जैसी है, हे योगी! उसमे जो प्राणवत-चेतन निवास करता है, उसकी तू भावना कर।

१०९ मूलको छोड़कर जो डाल पर चढ़ना चाहता है, उसको योग-अभ्यास कैसा? हे वत्स! जैसे बिना औंटे हुए कपास मे से वस्त्र नहीं बुना जाता, उसीप्रकार मूलगुण के बिना उत्तरगुण नहीं होते।

११० जिसके सर्व विकल्प छूट गये हैं और जो चेतनभाव को प्राप्त हुआ है, वह आत्मा निर्मल ध्यान मे स्थित होकर परमात्मा के साथ केलि करता है।

१११ हे भव्य! परम देव को लक्ष में लेकर, शीघ्र आज ही तू मस्त हाथी को जीत ले कि जिस पर चढ़कर परम मुनि सर्व गमनागमन से छूटकर मोक्षपुरी मे पहुँच जाते हैं।

११२ हे मस्तहाथी! हे करभा! इस विषम भवससार की गति का जबतक तू उच्छेदन न कर डाले, तबतक निजगुणरूपी बाग में मुक्तरूप से तपरूपी वेल को तू चर तेरे बन्धन (पैगाम) को खोल दिया है।

११३ जिसको तपरूपी दामन-लगाम है, व्रतरूपी चौकड़ा है तथा शम-दमरूपी पलाण है - ऐसे ऊँट पर बैठकर सयमधर निर्वाण को गये।

११४ एक तो स्वयं मार्गको जानते नहीं और दूसरे किसी से पूछते भी नहीं - ऐसे मनुष्य वन-जगल तथा पहाड़ों में भटक रहे हैं, उनको तू देख।

११५ जो तरूवर रास्ते को छोड़कर दूर फला-फूला है वह नकामा है, न तो कोई थके हुए पथिक वहाँ विश्राम लेते हैं और न उसके फलों को कोई हाथ लगाते हैं। (उसीप्रकार मार्गभ्रष्ट जीवों का वैभव बेकार है।)

११६ षट्दर्शन के धन्धे में पड़े हुए अज्ञानिओ के मन की भ्रान्ति न मिटी। अरे रे! एक देव के छह भेद किये, इससे वे मोक्ष नहीं जाते।

११७ एक अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कोई तेरा वैरी नहीं है, अत हे योगी! जिस भाव से तूने कर्मों का निर्माण किया है, उस परभाव को तू मिटा दे।

जइ वारउं तो तहिं जि पर अप्पहं मणु ण धरेइ।
विसयहं कारणि जीवडउ णरयहं दुक्ख सहेइ ।।११८।।

जीव म जाणहि अप्पणा विसया होसहिं मज्झु।
फल किं पाकहि जेम तिम दुक्ख करेसहिं तुज्झु ।।११९।।

विसया सेवहि जीव तुहुं दुक्खहं साहिक एण।
तेण णिरारिउ पज्जलइ हुववहु जेम घिएण ।।१२०।।

असरीरहं संधाणु किउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु।
सिवतत्तिं जिं संधियउ सो अच्छइ णिच्चिंतु ।।१२१।।

हलि सहि काइं करइ सो दप्पाणु, जहिं पडिबिंबु ण दीसइ अप्पणु।
धंधवालु मो जगु पडिहासइ, घरि अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ।।१२२।।

जसु जीवंतहं मणु मुवउ पंचेंदियहं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ लद्धउ पहु णिव्वाणु ।।१२३।।

किं किज्जइ बहु अक्खरहं जे कालि खउ जंति।
जेम अणक्खरु संतु मुणि तव वढ मोक्खु कहंति ।।१२४।।

छहदंसणगंथि बहुल अवरुप्परु गज्जंति।
जं कारणु तं इक्कु पर विवरेरा जाणंति ।।१२५।।

सिद्धंतपुराणहिं वेय वढ बुज्झतहं णउ भंति।
आणंदेण व जाम गउ ता वढ सिद्ध कहंति ।।१२६।।

सिवसत्तिहिं मेलावडा इहु पसुवाहमि होइ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहु विरला बुज्झइ कोइ ।।१२७।।

भिण्णउ जेहिं ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं अंधयहं किम दरिसावइ पंथु ।।१२८।।

जोइय भिण्णउ झाय तुहुं देहहं ते अप्पाणु।
जइ देहु वि अप्पउ मुणहि ण वि पावहि णिव्वाणु ।।१२९।।

छत्तु वि पाइ सुगुरुवडा सयलकालसंतावि।
णियदेहडइ वसंतयहं पाहण वाडि वहाइ ।।१३०।।

मा मुट्ठा पसु गरुवडा सयल काल झंखाइ।
णियदेहहं मि वसंतयहं सुण्णा मढ सेवाइ ।।१३१।।

११८ यद्यपि मैं रोकता हूँ तो भी मन पर में जाता है, वह मन अपने मे विषय को धारण करता है, परन्तु आत्मा को धारण नहीं करता। मन के व्दारा विषयों में भ्रमण करने के कारण जीव नरकों के दु खों को सहता है।

११९ हे जीव! तू ऐसा मत जान कि ये विषय मेरे हैं और मेरे रहेंगे। अरे, ये दो किम्पाक फल की तरह तुझे दु ख ही देंगे।

१२० हे जीव! तू विषयोंका सेवन करता है, किन्तु वे तो दु ख के ही देनेवाले हैं, जैसे घी के डालने के अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे विषयों के व्दारा तू बहुत जल रहा है।

१२१ जिसने अशरीरीका सन्धान किया, वही सच्चा धनुर्धारी है, और चित को एकाग्र करके जिसने शिवतत्व को साध लिया, वही सच्चा निश्चित है।

१२२ अली सखी! भला ऐसे दर्पणको क्या करें? जिसमें आत्मा का प्रतिबिब न दिखे? मुझे तो यह जगत बहावरे सरीखा भासता है कि जिसे गृहपति घर में होते हुये भी उसका दर्शन नहीं होता।

१२३ जिसके जीते-जी पाँच इन्द्रिय सहित मन मर गया, उसको मुक्त ही जानो, निर्वाणपथ उसने प्राप्त कर लिया।

१२४ हे वत्स! थोड़े ही काल में क्षय हो जाते हैं - ऐसे बहुत से अक्षरों को तुझे क्या करना है? मुनि तो जब अनक्षर (शब्दातीत - इन्द्रियातीत) हो जाते हैं, तब मोक्ष को पाते हैं।

१२५ षट्दर्शन के ग्रथ एक-दूसरे पर बहुत गरजते हैं, उन सबसे परे मोक्ष का जो एक कारण है, उसे तो कोई विरले ही जानते हैं।

१२६ हे वत्स! तू सिद्धान्त को तथा पुराण को जान, उसके जानने से भ्रान्ति नहीं रहती। हे वत्स! जो आनन्दस्वरूप में जम गये, वे सिद्ध कहलाते हैं।

१२७ इस लोक मे शिव और शक्ति का मेला (मिलन) तो पशुओं में भी होता है, परन्तु शिव से भिन्न शक्तिवाले शिव को तो कोई विरला ही पहिचानता है। (लोग तो पशु आदि में भी व्यापक ऐसे सर्वव्यापी शिव को मानते हैं, परन्तु उससे भिन्न अपने आतमा को ही शिवस्वरूप से तो कोई विरला ज्ञानी ही पहिचानता है।)

१२८ जिसने देहसे भिन्न निज परमार्थतत्व को नहीं जाना, वह अन्धा दूसरे अन्धे को मुक्तिपथ कैसे दिखलायेगा?

१२९ हे योगी! तुम देह से भिन्न आत्मा का ध्यान करो। यदि देह को अपना मानोगे तो तुम निर्वाण नहीं पा सकोगे।

१३० सुगुरु की महान छत्रछाया पाकर भी हे जीव! तू सकल काल सताप को ही प्राप्त हुआ। परमात्मा निजदेह में बसते हुए भी तूने पत्थर के ऊपर पानी ढोला।

१३१ हे वत्स! सुगुरु का सग छोड़कर तू सदा काल झखना-व्याकुलता मत कर। परमात्मा निजदेह में बसता हुआ भी तू शून्य मठ का सेवन क्यों करता है।?

रायवयल्लहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु।।१३२।।

तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पहं मणु वि धरेहि।
सोक्खु णिरंतरु तहिं लहहि लहु संसारु तरेहि।।१३३।।

अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि।
सिद्धिमहापुरि पइसरहि दुक्खहं पाणिउ देहि।।१३४।।

मुंडियमुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ।।१३५।।

अप्पु करिज्जइ काइं तसु जो अच्छइ सव्वंगओ संतें।
पुण्णविसज्जणु काइं तसु जो हलि इच्छइ परमत्थें।।१३६।।

गमणागमणविवज्जियउ जो तइलोयपहाणु।
गंगइ गरुवइ देउ किउ सो सण्णाणु अयाणु।।१३७।।

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य णरयं तं पुण्ण अम्ह मा होउ।।१३८।।

कासु समाहि करउं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं।।
हल सहि कलह केण सम्माणउ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउ।।१३९।।

जइ मणि कोहु करिवि कलहीजइ।
तो अहिसेउ णिरंजणु कीजइ।।
जहिं जहिं जोयउ तहिं णउ को वि उ।
हउं ण वि कासु वि मज्झु वि को वि उ।।१४०।।

णमिओ सि ताम जिणवर जाम ण मुणिओ सि देहमज्झम्मि।
जइ मुणिउ देहमज्झम्मि ता केण णवज्जए कस्स।।१४१।।

ता संकप्पवियप्पा कम्मं अकुणंतु सुहासुहाजणयं।
अप्पसरूवासिद्धी जाम ण हियए परिफुरइ।।१४२।।

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ मं करि खोहु।
सिद्धिमहापुरि पइसरइ उप्पाडेविणु मोहु।।१४३।।

१३२ हे जीव! इस भुवनतल मे तू ऐसे योगी को अपना मित्र बना कि जिसका चित राग के कलकल से, छह रस से तथा पाँच रूप से रजित न हो।

१३३ समस्त विकल्पों को तोड़कर मन को आत्मा मे स्थिर कर, वहाँ तुझे निरतर सुख मिलेगा और तू ससार को शीघ्र तिर जायेगा।

१३४ अरे जीव! तेरे मन में जिनवर को स्थाप, विषय-कषाय को छोड़, सिद्ध-महापुरी में प्रवेश कर और दु खों को पानी मे जलाजलि दे।

१३५ मुड मुडानेवालों में श्रेष्ठ हे मुड़का! तूने शिर का तो मुडन किया, परतु चित्त को न मुड़ा। जिसने चित्त का मुण्डन किया, उसने ससार का खडन कर डाला।

१३६ सर्वांग में जो सुस्थित है, उस धर्मात्मा को पाप क्या करेगा? उसी प्रकार जो परमार्थ का इच्छुक है, उस सज्जन को पुण्य का भी क्या काम है?

१३७ जो गमनागमन से रहित है और तीन लोक में प्रधान है - ऐसे देव की (तीर्थंकर देव की) गरवी गगा सुज्ञ पुरुषों के लिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेवाली है।

१३८ पुण्यसे विभव मिलता है, विभव से मद होता है, मद से मतिमोह होता है और मतिमोह से नरक होता है। ऐसा पुण्य हमें न हो। (यहाँ अज्ञानी के पुण्य की बात है।)

१३९ मै जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ सर्वत्र आत्मा ही दिखता है, तब फिर मैं किसकी समाधि करूँ और किसको पुजूँ ? छूत-अछूत कहकर किसका तिरस्कार करूँ? हर्ष या क्लेश किसके साथ करूँ? और सन्मान किसका करूँ?

१४० यदि मन क्रोधाग्नि से कलुषित हो जाय तो निरजन तत्त्व की भावनारूप निर्मलजल से आत्मा का अभिषेक करना कि जहाँ-जहाँ देखूँ वहाँ कोई भी मेरा नहीं है, न मैं किसी का हूँ, न कोई मेरा है। (ऐसी तत्वभावना के द्वारा क्रोध शात हो जाता है।)

१४१ हे जिनवर! जब तक मैंने देह में रहे हुए 'जिन' को न जाना, तब तक तुझे नमस्कार किया, परन्तु जब देह मे ही रहे हुए 'जिन' को जान लिया, तब फिर कौन किसको नमस्कार करे?

१४२ जीव को सकल्प-विकल्प तब तक रहता है जब तक कि शुभाशुभ जनक कर्म का अकर्ता होकर उसके अन्तर में आत्मस्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान न हो जावे।

१४३ (१) हे जीव! लोग तेरे को 'हठीला हठीला' कहते हैं तो भले कहो, किन्तु हे हठी! तू क्षोभ मत करना। (अर्थात् लोग तेरे को हठीला कहें, इससे तू तेरे मार्ग को नहीं छोड़ना!) तू मोह को उखाड़ कर सिद्धि-महापुरी में चले जाना।

(२) घेला (पागल) लोग तेरे को भी घेला-पागल सा कहें तो इसी से तू क्षुब्ध नहीं होना। लोग कुछ भी कहे, तू तो मोह को उखाड़ कर महान सिद्धि नगरी में प्रवेश करना।

अवधउ अक्खरु जं उप्पज्जइ।
अणु वि किं पि अण्णाउ ण किज्जइ।।
आयइं चित्तिं लिहि मणु धारिवि।
सोउ णिचिंतउ पाय पसारिवि।।१४४।।

किं बहुएं अडवड वडिण देह ण अप्पा होइ।
देहहं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ।।१४५।।

पोत्था पढणिं मोक्खु कहं मणु वि असुद्धउ जासु।
बहुयारउ लुद्धउ णवइ मूलट्ठिउ हरिणासु।।१४६।।

दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह वि ण जोइ।
बहुएं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडा ण होइ।।१४७।।

भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं।।१४८।।

हुयवहि णाइ ण सक्कियउ धवलत्तणु संखस्स।
फिट्टीसइ मा भंति करि छुडु मिलिया खयस्स।।१४९।।

संखसमुद्दहिं मुक्कियए एही होइ अवत्थ।
जो दुव्वाहहं चुंबिया लाएविणु गलि हत्थ।।१५०।।

छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घथडिहिं घिप्पति।
तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति ण भंति।।१५१।।

महुयर सुरतरुमंजरिहिं परिमलु रसिवि हयास।
हियडा फुट्टिवि किं ण मुयउ ढंढोलंतु पलास।।१५२।।

मुंडु मुंडाइवि सिक्ख धरि धम्महं वद्धी आस।
णवरि कुडुंबउ मेलियउ छुडु मिल्लिया परास।।१५३।।

णग्गत्तणि जे गव्विया विग्गुत्ता ण गणंति।
गंथहं बाहिरभितरिहिं एक्कु इ ते ण मुयंति।।१५४।।

अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझह जंतउ वारि।
तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि।।१५५।।

१४४ जीवों का वध न करो और अन्य के साथ जरा भी अन्याय न करो, इतनी बात चित में लिख लो और मन में धारण कर लो - बस, फिर तुम निश्चिंत पाव पसार कर सोओ।

१४५ बहुत अटपट बड़बड़ाने से क्या? देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न जो ज्ञानमय है - वही तू आत्मा है, हे योगी! उसको तू देख!

१४६ मन ही जिसका अशुद्ध है, उसे पोथा पढ़ने से भी मोक्ष कैसा? वैसे तो हिरन का वध करनेवाला पारधी भी हिरन के सामने नमता है। (जैसे भावशुद्धि से रहित उस पारधी का वह नमन, सच्चा नमन नहीं है, वैसे भावशुद्धि से रहित शास्त्रपठन भी मोक्ष का कारण नहीं होता। अत हे जीव! तू भावशुद्धि कर।)

१४७ जैसे बहुत पानी के विलोड़ने से हाथ चिकना नहीं होता (अर्थात् घी नहीं निकल पाता), वैसे दया से रहित धर्म ज्ञानिओं ने कहीं भी नहीं देखा।

१४८ दुष्टजन - खल के सग से भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं - जैसे लोहे का सग करने से वैश्वानर (अर्थात् अग्निदेव) भी बड़े-बड़े घनों से पीटे जाते हैं।

१४९ अग्नि भी शख के धवलत्व को नष्ट नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह स्वय खेर या काई से मिल जाय तो उसका धवलत्व मिट जाता है, इसमे भ्रांति न कर। (अत. कुसगति न करना।)

१५० शख के पेट में रहे हुए मुक्ताफल मोती के कारण से उसकी ऐसी हालत होती है कि धीवर - मच्छीमार उसका गला फाड़कर उस मोती को बाहर निकालता है। (इस प्रकार परिग्रह से जीव दु खी होता है।)

१५१. गुणरत्ननिधि (अर्थात् समुद्र) का सग छोड़ने से शख की कैसी हालत होती है? अर्थात् बाजार में उसका विक्रय होता है और बाद में किसी के मुँह से फूँका जाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं। (गुणीजन का सग छोड़ने में ऐसा बेहाल होता है।)

१५२ हे हताश मधुकर! कल्पवृक्ष की मंजरी का सुगधयुक्त रस चख कर के भी अब तू गध रहित पलाश के उपर क्यों भ्रमता-फिरता है? - अरे! ऐसा करते हुए तेरा हृदय फट क्यों नहीं गया? और तू मर क्यों नहीं गया? (अत्यत मधुर चैतन्यरस का स्वाद लेने के बाद, अन्य नीरस विषयों में उपयोग का भ्रमण हो, उसमें ज्ञानी को मरण जैसा दु ख लगता है।)

१५३-१५४ मूड मुड़ाया, उपदेश लिया, धर्म की आशा बढ़ी एव कुटुम्ब को छोड़ा, पर की आशा भी छोड़ी -इतना सब करने पर भी जो नग्नत्व से गर्वित है और त्रिगुप्ति की परवाह नहीं करता (अथवा वस्त्रधारी-धर्मात्माओं के प्रति तिरस्कार करता है) उसने तो बाह्य या अतरग एक भी ग्रथ-परिग्रह को नहीं छोड़ा।

१५५ अरे, इस मनरूपी हाथी को विंध्य पर्वत की ओर जाने से रोको, अन्यथा वह शील के वन को तोड़ देगा तथा जीव को संसार में पटक देगा।

जे पढिया जे पंडिया जाहिँ मि माणु मरट्टु।
ते महिलाण हि पिडि पडिय भमियहं जेम घरट्टु ॥१५६॥

विद्दा वम्मा मुट्ठिइण करिसिवि लिहिहि तुहुं ताम।
जह संखहं जीहालु सिवि सङ्डच्छलइ ण जाम॥१५७॥

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइं पइट्ठा उट्टु।
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्टु॥१५८॥

पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जाणि सवण्णु।
जं पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कु इ अण्णु॥१५९॥

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिँ जि हत्थु म वहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहुं सो सिउ एत्थु चढाहि॥१६०॥

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु॥१६१॥

तित्थइं तित्थ भमंतयहं किण्णेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव॥१६२॥

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण॥१६३॥

जोइय हियडइ जासु ण वि इक्कु ण णिवसइ देउ।
जम्मणमरणविवज्जियउ किम पावइ परलोउ॥१६४॥

एक्कु सुवेयइ अण्णु ण वेयइ।
तासु चरिउ णउ जाणहिं देव इ॥
जो अणुहवइ सो जि परियाणइ।
पुच्छंतहं समिति को आणइ॥१६५॥

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कह व जाइ।
कहियउ कासु वि णउ चित्ति ठाइ।
अह गुरुउवएसें चित्ति ठाइ।
तं तेम धरंतिहिँ कहिँ मि ठाइ॥१६६॥

१९६ जो पढ़े-लिखे है, जो पंडित है, जो मान-मर्यादावाले हैं, वह भी महिलाओं के पिण्ड में पड़कर चक्की के पाटके समान चक्कर काटते हैं।

१९७ रे विषयांध! तबतक ही तू विषयों को मुष्टि में लेकर चाख ले कि जबतक जिह्वा-लोलुपी शख की तरह तेरा शरीर सड़कर शिथिल हो जाय! (अर्थात् रे मूर्ख! क्षणभगुर विषयों में क्यों राचता है? - वे तो क्षण मे सड़ जायेंगे।)

१९८ जैसे वन में ऊँट ने प्रवेश किया हो, वैसे हे जीव! तू तड़ातड़ पत्तियाँ तोड़ता है, परन्तु मोह के वशीभूत होकर तू यह नहीं जानता कि कौन तोड़ता है और कौन टूटता है? (अर्थात् वनस्पति में भी तेरे जैसा जीव है - ऐसा तू जान और उसकी हिंसा न कर।)

१९९ पत्ता, पानी, दर्भ, तिल - इन सबको तू सवर्ण (वर्णसहित, अचेतन) जान, फिर यदि मोक्ष मे जाना हो तो उसका कारण कोई अन्य ही है - ऐसा जान। (पत्ते-पानी आदि वस्तु देव को चढ़ाने से मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति का कारण अन्य ही है।)

१६० हे योगी! पत्तों को मत तोड़ और फलों को भी हाथ मत लगा, किन्तु जिसके लिये तू इन्हे तोड़ता है, उसी शिव को यहीं चढ़ा दे! (व्यग्य करते हुए कवि कहता है हे शिवपुजारी! वे शिव यदि पत्ते से ही प्रसन्न हो जाते हैं तो उन्हें ही वृक्ष के ऊपर क्यों नहीं चढ़ा देता?)

१६१ देवालय के पाषाण, तीर्थ का जल या पोथी के सब काव्य इत्यादि जो भी वस्तु फूली-फली दिखती हैं, वह सब ईन्धन हो जायेंगी। (उन सबको क्षणभगुर जानकर अविनाशी आत्मा को ध्यावो।)

१६२ अनेक तीर्थों में भ्रमण करने पर भी कुछ फल तो न हुआ। बाह्य में तो पानी से शुद्ध हुआ, परन्तु अन्तर में कौनसी शुद्धि हुई?

१६३ हे वत्स! अनेक तीर्थों मे तूने भ्रमण किया और शरीर के चमड़े को जल से धोया, परन्तु पापमल से मलिन ऐसे तेरे मन को तू कैसे धोयेगा?

१६४ हे योगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक देव निवास नहीं करता, वह जीव पर-लोक को (मोक्ष को) कैसे पावेगा?

१६५ एक तत्व तो अच्छी तरह जानता है, दूसरा तत्त्व कुछ नहीं जानता। सर्व को जाननेवाले ऐसे आत्मतत्त्व का चरित्र देव भी नहीं जानते, जो अनुभव करता है, वही उसको अच्छी तरह जानता है। पूछताछ से इसकी सतृप्ति कैसे होवे? (अर्थात् आत्मतत्त्व स्वानुभवगम्य है, वाद्-विवाद से या पूछताछ से वह प्राप्त नहीं होता।)

१६६ जानते हुए भी वह तत्व लिखने में नहीं आता, पूछनेवालों से कहा भी नहीं जाता, कहने से किसी के चित में वह नहीं ठहरता। अथवा गुरू के उपदेश से यदि किसीके चित्त में वह ठहरता है तो चित्त में धारण करनेवाले के वह सर्वत्र अन्तरग में स्थित रहता है।

कढ्ढइ सरिजलु जलहिविपिल्लिउ।
जाणु पवाणु पवणपहिपिल्लिउ॥
बोहु विबोहु तेम संघट्टइ।
अवर हि उत्तउ ता णु पयट्टइ॥१६७॥

बरि विविहु सद्दु जो सुम्मइ।
तहिं पइसरहुं ण वुच्चइ दुम्मइ॥
मणु पंचहिं सिहु अत्थवण जाइ।
मूढा परमतत्तु फुडु तहिं जि ठाइ॥१६८॥

अक्खइ णिरामइ परमगइ अज्ज वि लउ ण लहंति।
भग्गी मणहं ण भंतडी तिम दिवहडा गणंति॥१६९॥

सहजअवत्थहिं करहुलउ जोइय जंतउ वारि।
अक्खइ णिरामइ पेसियउ सइं होसइ संहारि॥१७०॥

अक्खइ णिरामइ परमगइ मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि।
तुट्टेसइ मा भंति करि आवागमणहं वेल्लि॥१७१॥

एमइ अप्पा झाइयइ अविचलु चित्तु धरेवि।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ अट्ठ वि कम्म हणेवि॥१७२॥

अक्खरचडिया मसिमिलिया पाढंता गय खीण।
एक्क ण जाणी परम कला कहिं उग्गउ कहिं लीण॥१७३॥

वे भंजेविणु एक्कु किउ मणहं ण चारिय विल्लि।
तहि गुरुवहि हउं सिस्सिणी अण्णहि करमि ण लल्लि॥१७४॥

अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ॥१७५॥

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज॥१७६॥

जइ इक्क हि पावीसि पय अंकय कोडि करीसु।
णं अंगुलि पय पयडणइं जिम सव्वंग य सीसु (?)॥१७७॥

तित्थइं तित्थ भमंतयहं संताविज्जइ देहु।
अप्पें अप्पा झाइयइं णिव्वाणं पउ देहु॥१७८॥

१६७ नदी का जल जलधि के व्दारा विरुद्ध दिशा में धकेला जाता है, बड़ा जहाज भी पवन के सघर्ष से विरुद्ध दिशा मे खिच जाता है, वैसे ज्ञान और अज्ञान का सघर्ष होने पर दूसरी ही प्रवृति होती है। (कुसग से जीव अज्ञान की ओर खिच जाता है।)

१६८ आकाश मे जो विविध शब्द (अर्थात् दिव्यध्वनि का उपदेश) हैं, सुमति उसका अनुसरण करता है, किन्तु दुर्मति जीव उसका अनुसरण नहीं करता। पाँच इन्द्रिय सहित मन जब अस्त हो जाताहै, तब परमतत्त्व प्रगट होता है, उसमें हे मूढ! तू स्थिर हो!!

१६९ अरे रे, अक्षय निरामय परमगतिकी प्राप्ति अभी तक न हुई! मन की भ्रान्ति न मिटी और ऐसे ही दिवस बीते जा रहे हैं।

१७० हे योगी! विषयों से तेरे मन को रोककर शीघ्र सहज अवस्थारूप कर, अक्षय निरामय स्वरूप में प्रवेश करते ही स्वय उस मन का सहार हो जायगा।

१७१ अक्षय निरामय परमगति में प्रवेश करके मन को छोड़ दे - ऐसा करने से तेरी आवागमन की बेल टूट जाएगी, इसमें भ्रान्ति न कर।

१७२ इसप्रकार चित्त को अविचल स्थिर करके आत्मा का ध्यान होता है तथा अष्टकर्म को नष्ट कर सिद्धि महापुरी में गमन होता है।

१७३ स्याही से लिखे गये ग्रन्थ पठन करते-करते क्षीण हो गये, परन्तु हे जीव! तू कहाँ उत्पन्न हुआ और कहाँ लीन होगा - इस एक परम कला को तूने न जाना। (मात्र शास्त्र-पठन किया, किन्तु आत्मा को न जाना!)

१७४ जिन्होंने दो को मिटाकर एक कर दिया (अर्थात् भेद मिटाकर अभेद किया, राग-व्देष मिटाकर समभाव किया) और विषयकषायरूपी बेल के व्दारा मन की बेलि को चरने नहीं दिया - ऐसे गुरू की मैं शिष्यानी हूँ, अन्य किसी की लालसा मैं नहीं करती।

१७५ आगे-पीछे, दशों दिशाओं में जहाँ मैं देखूँ, वहाँ सर्वत्र वही है, बस, अब मेरी भ्रान्ति मिट गई, अन्य किसी से पूछने का न रहा।

१७६ जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है, वैसे चित्त चैतन्य में विलीन होने पर जीव समरसी हो जाता है। समाधि में इसके सिवाय और क्या करना है?

१७७ यदि एकबार भी उस चैतन्यदेव के पद को पाऊँ तो उसके साथ मैं अपूर्व क्रीडा करूँ। जैसे कोरे घड़े में पानी की बूँद सर्वांग प्रवेश कर जाती है, वैसे मैं भी उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँ।

१७८ एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करने वाला जीव मात्र देह का सताप करता है, आत्मा में आत्मा को ध्याने से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है, अत हे जीव! तू आत्मा को ध्याकर निर्वाण की ओर पैर बढ़ा।

जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ।
सिउ पइं सिहुं हंहिंडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ॥१७९॥

मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं॥१८०॥

वामिय किय अरु दाहिणिय मज्झाइं वहइ णिराम।
तहिं गामडा जु जोगवइ अवर वसावइ गाम॥१८१॥

देव तुहारी चिंत महु मज्झणपसरवियालि।
तुहुं अच्छेसहि जाइ सुउ परइ णिरामइ पालि॥१८२॥

तुट्टइ बुद्धि तडत्ति जहिं मणु अंथवणहं जाइ।
सो सामिय उवएसु कहि अण्णहिं देवहिं काइं॥१८३॥

सयलीकरणु ण जाणियउ पाणियपण्णहं भेउ।
अप्पापरहु ण मेलयउ गंगडु पुज्जइ देउ॥१८४॥

अप्पापरहं ण मेलयउ आवागमणु ण भग्गु।
तुस कंडंतहं कालु गउ तंदुलु हत्थि ण लग्गु॥१८५॥

देहादेवलि सिउ वसइ तुहुं देवलइं णिएहि।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धे भिक्ख भमेहि॥१८६॥

वणि देवलि तित्थइं भमहि आयासो वि णियंतु।
अम्मिय विहडिय भेडिया पसुलोगडा भमंतु॥१८७॥

वे छंडेविणु पंथडा
विच्चे जाइ अलक्खु।
तहो फल वेयहो किं पि णउ
जइ सो पावइ लक्खु॥१८८॥

जोइय विसमी जोयगइ
मणु वारणहं ण जाइ।
इंदियविसय जि सुक्खडा
तित्थइं वलि वलि जाइ॥१८९॥

१७९ हे योगी! जिस पद को देखने के लिये तू अनेक तीर्थों में भ्रमण करता फिरता है, वह शिवपद भी तेरे साथ ही साथ घूमता रहा, फिर भी तू उसे न पा सका! (क्योंकि तेरे शिवपद को तूने बाहर के तीर्थों में खोजा, परन्तु अन्तस्स्वभाव में दृष्टि न करी।)

१८० मूढ जीव, लोगों के व्दारा बनाये गये देवल में देवको खोजते हैं, परन्तु अपने ही देह-देवल में जो शिवसन्त विराजमान है, उसको वे नहीं देखते।

१८१ हे योगी! तूने बायीं ओर तथा दाहिनी ओर सर्वत्र इन्द्रिय-विषयरूपी ग्राम बसाये, परन्तु अन्तर को तो सूना रखा वहाँ भी एक अन्य (इन्द्रियातीत) नगर को बसा दे।

१८२ हे देव! मुझे तुम्हारी चिन्ता है, जब यह मध्याह्न का प्रसार बीत जायगा, तब तू तो सोता रहेगा और यह पाली सूनी पड़ी रहेगी। (जबतक आत्मा है, तबतक इन्द्रियों की यह नगरी बसी हुई दिखती है, आत्मा के चले जाने पर वह सब सुनकार उज्जड हो जाता है, अत विषयोंसे विमुख होकर आत्मा को साध लेना चाहिए।)

१८३ हे स्वामी! मुझे कोई ऐसा अपूर्व उपदेश दीजिये कि जिससे मिथ्याबुद्धि तड़ाक से टूट जाय और मन भी अस्तगत हो जाय। अन्य कोई देव का मुझे क्या काम है?

१८४ जो सकली करन को या पानी-पत्र के भेद को नहीं जानता, तथा आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध नहीं करता, वह तो पत्थर के टुकड़े को देव समझकर पूजता है।

१८५ जिसने आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध नहीं किया और न आवागमन मिटाया, उसे तुसके कूटते हुये बहुत काल बीत गया तो भी तन्दुल का एक दाना भी हाथ में न आया।

१८६ देहरूपी देवालयमें तू स्वय शिव बस रहा है और तू उसे अन्य देवल में ढूँढता फिरता है। अरे, सिद्धप्रभु भिक्षा के लिये भ्रमण कर रहा है - यह देखकर मुझे हँसी आती है।

१८७ वन में देवालयों में तथा तीर्थों में भ्रमण किया, आकाश में भी ढूँढा, परन्तु अरे रे! इस भ्रमण में भेड़िये और पशु जैसे लोगों से ही भेंट हुई (भगवान का तो कहीं दर्शन न हुआ!)

१८८ पुण्य तथा पाप दोनों के मार्ग को छोड़कर अलख के अन्दर जाना होता है, उन दोनोंका (पुण्य-पाप का) कुछ ऐसा फल नहीं मिलता कि जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो।

१८९ हे योगी! जोग की गति विषम है, मन रोका नहीं जाता और इन्द्रिय-विषयों के सुख में बलि-बलि जाता है, फिर फिर इन्द्रिय-विषयों में भ्रमण करता है।

बद्धउ तिहुवणु परिभमइ मुक्कउ पउ वि ण देइ।
दिक्खु ण जोइय करहुलउ विवरेरउ पउ देइ॥१९०॥

संतु ण दीसइ तत्तु ण वि संसारेहिं भमंतु।
खंधावारिउ जिउ भमइ अवराडइहिं रडंतु॥१९१॥

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जउ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु॥१९२॥

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
अणुदिणु झायइ देउ जिणु सो परमप्पउ होइ॥१९३॥

विसया सेवइ जो वि परु बहुला पाउ करेइ।
गच्छइ णरयहं पाहुणउ कम्मु सहाउ लएइ॥१९४॥

कुहिएण पूरिएण य छिद्देण य खारमुत्तगंधेण।
संताविज्जइ लोओ जह सुणहो चम्मखंडेण॥१९५॥

देखंताहं वि मूढ वढ रमियइं सुक्खु ण होइ।
अम्मिए मुत्तहं छिद्दु लहु तो वि ण विणडइ कोइ॥१९६॥

जिणवरु झायहि जीव तुहुं
विसयकसायहं खोइ।
दुक्खु ण देक्खहि कहिं मि
वढ अजरामरु पउ होइ॥१९७॥

विसयकसाय चएवि वढ अप्पहं मणु वि धरेहि।
चूरिवि चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि॥१९८॥

इंदियपसरु णिवारियइं मण जाणहि परमत्थु।
अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु विडाविउ सत्थु॥१९९॥

विसया चिंति म जीव तुहुं विसय ण भल्ला होंति।
सेवंताहं वि महुर वढ पच्छइं दुक्खइं दिंति॥२००॥

विसयकसायहं रंजियउ अप्पहिं चित्तु ण देइ।
बंधिवि दुक्कियकम्मडा चिरु संसारु भमेइ॥२०१॥

१९० हे योगी, आश्चर्यकी बात देखो! यह चैतन्य-करभ (करभ याने हाथी का बच्चा अथवा ऊँट) की गति कैसी विपरीत-विचित्र है! कि जब वह बँधा हो तब तो तीनभुवन में भ्रमण करता है और जब छूटा (मुक्त) हो, तब तो एक डग भी नहीं भरता। (जगत में सामान्यत. ऐसा होता है कि ऊँट वगैरह प्राणी जब मुक्त हों, तब चारों तरफ घूमते रहते हैं, और जब बँधे हुए हों तब घूम-फिर नहीं सकते। किन्तु यहाँ आत्मा की गति ऐसी विचित्र है कि जब वह कर्मबन्धन से मुक्त होता है तब तो एक डग भी नहीं चलता - स्थिर ही रहता है, और जब बन्धन में बँधा हो तब तो चारों गति में, तीन लोक मे घूमता रहता है।)

१९१ अरे रे, ससार में भ्रमण करते हुए जीव को न सन्त दिखता है और न तत्व और वह पर की रक्षा का भार अपने कन्धे पर लेकर घूमता फिरता है। इन्द्रिय तथा मनरूपी फौज को साथ लेकर पर की रक्षा के लिये भ्रमण करता है।

१९२ जो उजाड़ को तो बसाता है और बसे हुए को उजाड़ता है, जिसे न पुण्य है न पाप। अहो, ऐसे योगी की बलिहारी है, मैं उनको बलि-बलि जाता हूँ, अर्पणता करता हूँ।

१९३ जो पुराने कर्मों को खिपाता है, नये कर्मों को आने नहीं देता और प्रतिदिन जिन-देव को ध्याता है, वह जीव परमात्मा बन जाता है।

१९४ तथा दूसरा, जो विषयों का सेवन करता है तथा बहुत पाप करता है, वह कर्म का सहारा लेकर नरक का पाहुना (मेहमान) बन जाता है।

१९५ जैसे कुत्ता चमड़े के टुकड़े में मुर्छित होकर हैरान होता है, वैसे मूढ़ लोग कुत्सित और क्षार-मूत्र की दुर्गन्ध से भरित शरीर में मुर्छित होकर सताप को पाता है।

१९६ हे मूर्ख! मल-मूत्र का धाम ऐसा यह मलिन शरीर, जिसके देखने से या जिसमें रमने से कहीं सुख तो नहीं होता, तो भी मूढ लोग कोई उसको छोड़ते नहीं।

१९७ हे जीव! तू जिनवर को ध्याव और विषय-कषायों को छोड़। हे वत्स! ऐसा करनेसे दु ख तेरे को नहीं दीखेगा, और तू अजर-अमर पद को पावेगा।

१९८ हे वत्स! विषय-कषायों को छोड़कर मन को आत्मा में स्थिर कर, ऐसा करने से चार गति को चूर कर तू अतुल परमात्मपद को पावेगा।

१९९ रे मन! तू इन्द्रियों के फैलाव को रोक और परमार्थ को जान। ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य जो कोई शास्त्र हैं, वे तो वितण्डावाद हैं।

२०० हे जीव! तू विषयोंका चिन्तन मत कर, विषय भले नहीं होते। हे वत्स! सेवन करते समय तो वे विषय मधुर लगते हैं, परन्तु बाद में वे दु ख ही देते हैं।

२०१ जो जीव विषय-कषायों में रजित होकर आत्मा मे चित नहीं देता, वह दुष्कृत कर्मों को बाँधकर दीर्घ काल तक ससार में भ्रमण करता है।

इंदियविसय चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ।
अणुदिणु झावहि परमपउ तो एहउ ववसाउ॥२०२॥

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो।
एयाइं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो॥२०३॥

तुट्टे मणवावारे भग्गे तह रायरोससब्भावे।
परमप्पयम्मि अप्पे परिट्ठिए होइ णिव्वाणं॥२०४॥

विसया सेवहि जीव तुहुं छंडिवि अप्पसहाउ।
अण्णइ दुग्गइ जाइसिहि तं एहउ ववसाउ॥२०५॥

मंतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु।
ण वि उच्छासह किज्जइ कारणु॥

एमइ परमसुक्खु मुणि सुव्वइ।
एही गलगल कासु ण रुच्चइ॥२०६॥

उववास विसेस करिवि बहु एहु वि संवरु होइ।
पुच्छइ किं बहु वित्थरिण मा पुच्छिज्जइ कोइ॥२०७॥

तउ करि दहविहु धम्मु करि जिणभासिउ सुपसिद्धु।
कम्महं णिज्जर एह जिय फुडु अक्खिउ मइं तुज्झु॥२०८॥

दहविहु जिणवरभासियउ धम्मु अहिंसासारु।
अहो जिय भावहि एक्कमणु जिम तोडहि संसारु॥२०९॥

भवि भवि दंसणु मलरहिउ भवि भवि करउं समाहि।
भवि भवि रिसि गुरु होइ महु णिहयमणुब्भववाहि॥२१०॥

अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण॥२११॥

सुण्णं ण होइ सुण्णं दीसइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं।
अवहरइ पावपुण्णं सुण्णसहावेण गओ अप्पा॥२१२॥

वेपंथेहिं ण गम्मइ वेमुहसूई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं च मोक्खं च॥२१३॥

उववासह होइ पलेवणा संताविज्जइ देहु।
घरु डज्झइ इंदियतणउ मोक्खहं कारणु एहु॥२१४॥

२०२ हे वत्स! इन्द्रिय-विषयों को छोड़, मोह का भी परित्याग कर, अनुदिन परमपद को ध्याव तो तेरे को भी ऐसा व्यवसाय होगा अर्थात् तू भी परमात्मा बन जायगा।

२०३ निर्जित श्वास, निस्पद लोचन और सकल व्यापार से मुक्त - ऐसी अवस्था की प्राप्ति वही योग है, इसमें सन्देह नहीं।

२०४ जब मन का व्यापार टूट जाय, राग-रोष का भाव नष्ट हो जाय और आत्मा परमपद में परिस्थित हो जाय, तभी निर्वाण होता है।

२०५ रे जीव! तू आत्मस्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करता है तो तेरा यह व्यवसाय ऐसा है कि तू दुर्गति मे जायगा। (अत ऐसे दुर्व्यवसाय को छोड़।)

२०६ जिसमें न कोई मत्र है न तत्र, न ध्येय है न धारण, श्वासोश्वास भी नहीं है, इनमें से किसी को कारण बनाये बिना ही जो परमसुख है, उसमें मुनि सोते हैं, लीन होते हैं, यह गड़बड़ या कोलाहल उनको नहीं रूचता।

२०७ विशेष उपवास करने से (परमात्मा में बसने से) अधिक सवर होता है। बहुत विस्तार क्यों पूछता है? अब किसी से मत पूछ।

२०८ हे जीव! जिनवर-भाषित सुप्रसिद्ध तप कर, दशविध धर्म कर, इस रीतिसे कर्म की निर्जरा कर - यह स्पष्ट मार्ग मैंने तुझे बता दिया।

२०९ अहो जीव! जिनवरभाषित दशविध धर्म को तथा सारभूत अहिंसा धर्म को तू एकाग्र-मन से इसप्रकार भा, जिससे कि तेरा ससार टूट जाय।

२१० भव-भव में मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल रहो, भव-भव मे मैं समाधि धारण करूँ, भव-भव में षि-मुनि मेरे गुरू हों, और मन मे उत्पन्न होनेवाली व्याधि का निग्रह हो।

२११ हे जीव! रामसिंह मुनि ऐसा कहते हैं कि तू बारह अनुप्रेक्षाको एकाग्रमनसे इसप्रकार भा कि जिससे शिवपुरी की प्राप्ति हो।

२१२ जो शून्य है वह सर्वथा शून्य नही है, तीनभुवन से शून्य (खाली) होने से वह (आत्मा) शून्य दिखता है (परन्तु स्वभावसे तो वह पूर्ण है)। ऐसे शून्य-सद्भाव में प्रविष्ट आत्मा पुण्य-पाप का परिहार करता है।

२१३ अरे अजान! दो पथ मे गमन नहीं हो सकता, दो मुखवाली सुई से कथरी नहीं सिली जाती, वैसे इन्द्रिय सुख तथा मोक्ष-सुख - ये दोनों बात एकसाथ नहीं बनती।

२१४ उपवास से प्रतपन होने से देह सतप्त होता है और उस संताप से इन्द्रियों का घर दग्ध हो जाता है - यही मोक्ष का कारण है।

अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धु हरेप्पिणु जेत्थु।
ताहं समउ जय कारियइं ता मेलियइ समत्तु।।२१५।।

जइ लद्धउ माणिक्कडउ जोइय पुहवि भमंत
बंधिज्जइ णियकप्पडइं जोइज्जइ एक्कंत।।२१६।।

वादविवादा जे करहिं जाहिं ण फिट्टिय भंति।
जे रत्ता गउपावियइं ते गुप्पंत भमंति।।२१७।।

कायोऽस्तीत्यर्थमाहार. कायो ज्ञानं समीहते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम्।।२१८।।

कालहिं पवणहिं रविससिहिं चहु एक्कट्ठइं वासु।
हउं तुहिं पुच्छउं जोइया पहिले कासु विणासु।।२१९।।

ससि पोखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ।
सत्त रज्जु तमु पिल्लि करि कम्महं कालु गिलेइ।।२२०।।

मुखनासिकयोर्मध्ये प्राणान् संचरते सदा।
आकाशे चरते नित्यं स जीवो तेन जीवति।।२२१।।

आपदा मूर्च्छितो वारिचुलुकेनापि जीवति।
अंभःकुंभसहस्राणां गतजीवः करोति किम्।।२२२।।

।। इय पाहुड-दोहा समत्ता ।।

अतर्मुख अतीन्द्रिय सुख
बहिर्मुख ते बधु दुख।।
ज्ञानभाव छे सुख नु धाम
राग भाव नु शु छे काम।।
आत्म लक्ष्मी खोल खजाना।
जो तु चाहे मोक्ष में जाना।।
हू छू सिद्ध तु छो सिद्ध
श्रद्धाकर तो थई जा बुद्ध।।
सुख सागर मा आत्मा पूर।
दुख बधा ते भाग्या दूर।।
स्वद्रव्ये जो प्रीति जोड।
चार गति ना बधन तोड।।

२१५ अरे, उस घर का भोजन रहने दो कि जहाँ सिद्ध का अपवर्णन (अवर्णवाद) होता हो। ऐसे (सिद्ध का अवर्णवाद करनेवाले) जीवों के साथ जयकार करने से भी सम्यक्त्व मलिन होता है।

२१६ हे योगी! पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए यदि माणिक मिल जाये तो वह अपने कपड़े में बाँध लेना और एकान्त में बैठकर देखना। (संसार-भ्रमण में सम्यक्त्व रत्न को पाकर एकान्त मे फिर-फिर उसकी स्वानुभूति करना, लोगों का संग मत करना।)

२१७ वाद-विवाद करनेवाले की भ्रांति नहीं मिटती, जो अपनी बड़ाई मे तथा महापाप में रक्त हैं, वे भ्रान्त होकर भ्रमण करते रहते हैं।

२१८ आहार है सो काया की रक्षा के लिये है, काया ज्ञान के समीक्षण के लिये है, ज्ञान कर्म के विनाश के लिये है, तथा कर्म के नाश से परमपद की प्राप्ति होती है।

२१९ काल, पवन, सूर्य तथा चन्द्र - ये चारों का इकठ्ठा वास है। हे जोगी! मैं तुझसे पूछता हूँ कि इनमें से पहले किसका विनाश होगा?

२२० चन्द्र पोषण करता है, सूर्य प्रज्वलित करता है, पवन हिलोरें लेता है, और काल सात राजू के अन्धकार को पेलकर कर्मों को खा जाता है।

२२१ मुख और नासिका के मध्य में जो सदा प्राणों का संचार करता है, और जो सदा आकाश मे विचरता है, उसी से जीव जीता है। (अथवा, जो मुख तथा नासिका के बीच मे प्राणवायुका संचार करता है तथा आकाश मे सदा विचरण करता है ऐसे प्राणवायु से संसारी जीव जीते हैं।)

२२२ जो आपदा से मूर्छित हुआ है, वह तो चुल्लुभर पानी के छिड़कने से भी जीवन्त (जागृत) हो जाता है, परन्तु जो गतजीव है (मृत्यु को प्राप्त है) उसे तो पानी के हजारों घड़े भी क्या कर सकते हैं? (उसीप्रकार जिस जीव मे मुमुक्षता है, वह तो थोड़ेसे ही उपदेश से भी जागृत हो जाता है, परन्तु जिसमें मुमुक्षुपना नहीं है, उसे तो हजारों शास्त्रों का भी उपदेश निरर्थक है।)

॥ इति पाहुड़-दोहा का अनुवाद समाप्त ॥

जिनागम की विराधना का फल

सुभौम चक्रवर्ती से बदला लेने के लिए रसोइये ने देव पर्याय प्राप्त कर चक्रवर्ती को समुद्र में डुबाकर मारने का षड़यन्त्र रचा, जब जहाज डगमगाने लगा तो देव ने कहा - यदि णमोकार मंत्र लिखकर पैर से मिटा दो तो जहाज डुबने से बच जाएगा। चक्रवर्ती ने ऐसा ही किया, जिसके फलस्वरूप मरकर वह सातवें नरक में चला गया। आज भी जो जैन साहित्य का बहिष्कार करके अविनय कर रहे है, उनकी क्या गति होगी, भगवान जाने।

॥ णमो जिणाणं ॥

श्री नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती के भक्त, चंद्रसागरवर्णी रचित

सारभूत आत्मतत्त्व-प्रतिपादक

भव्यामृत-शतक

(कन्नड काव्य का हिन्दी अनुवाद)

(नेमीश्वर-वचनामृत)

१ मुमुक्षु जीवों के व्दारा वन्दनीय काल-विजयी, काम के नाशक, सभी सेव्य गुणों के समुद्र और दोषों से दूर - ऐसे परमात्मा, प्रसन्नता से सदा हमारी रक्षा करो।

२ जो जीव समझदार हैं, वह तो यह समझता है कि परमात्मा के समस्त पवित्र गुण अपने में हैं, किन्तु जो जीव यह बात नहीं समझता, वह कर्मवश होकर संसार समुद्र में डूबकर तड़पता है।

३ यह चैतन्यहीन पुद्गल है और यह पूर्ण चैतन्यमय जीव है - ऐसे अन्तर को जब जीव समझता है, तब वह भवसागर से पार हो जाता है।

४ रागादि दोषों से रहित - ऐसे जिनदेव के व्दारा प्रतिपादित आगम के सार को ऋषि-मुनिवरों के माध्यम से शीघ्र समझकर, जो शुद्धभाव से उसके अनुसार जीवन जिएगा, वह जीव भव-समुद्र को तैर कर शाश्वत सुख को पावेगा।

५ 'मेरा आत्मा सर्व गुणों का भंडार है और यही सभी शास्त्रों का सार है' *- ऐसा समझकर जो जीव अपने जीवन में उन सभी सद्गुणो को प्रगट करता है, वह सदा सुखी होकर विचरता है।*

६ जिसको उस शाश्वत सुख की चाहना है और भव के दुःखों का भय है, उसको प्रयत्नपूर्वक देहजन्य-सुखों की वाँछा सर्वथा छोड देना चाहिए।

७ हे भव्य! कारण-कार्य की सीमा मे रहकर तू समस्त आगम को सुन और मन्मथ-विजयी (अर्थात् विषयों के शत्रु) ऐसे जिनमार्ग मे अडिग रहकर, सर्वोत्कृष्ट-सारभूत आत्मतत्त्व का अनुभव कर।

८ मुक्ति तो उस जीव की चेली है - कि जो ऐसे आत्मतत्त्व को निःशंक होकर एक चित्त से जानता है; तथा अन्य मिथ्यावाद, सुनने में आकर्षक लगें तो भी उससे भ्रमित या मदमत्त (विषयासक्त) नहीं होता।

९ हे भव्य! मैं तुझे एक वस्तु समझाता हूँ, अत्यत प्यार से तू उसे सुन और समझ - 'आत्मा यह स्वयं नित्य सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, उसे तू जान ले और कभी मत भूलना।'

१० ऐसे नित्यरूप परमात्मा को मात्र शास्त्र के द्वारा देख लेने का जो दावा करता है, वह मूर्ख है। आप ही कहो - क्या हाथ में दीपक रखने से अन्धा जम्बूद्वीप को देख सकेगा? (नहीं; शास्त्ररूपी दीपक रहते हुए भी, अन्तर के ज्ञानचक्षु खोले बिना आत्मा दिखने में नहीं आता।)

११ प्रतिदिन अपने अन्तर मे जागृत, अत्यत निर्मल, विशुद्ध सद्भाव - परिणाम को सदैव पहचानो, उसका अनुभव करो, उसी मे सभी आगम के उपदेश का सार समा जाता है।

१२ जीव के अपने गुण कौनसे हैं? - केवलज्ञान, केवलदृष्टि, अमित वीर्य एवं अनंत सुख - ये जीव के गुण हैं। इनकी अपेक्षा में, शास्त्र के श्रवण-मनन आदि से जो ज्ञान होता है, वह तो सरोवर में गिरे हुए ओस के बिन्दु के समान (नगण्य) है।

१३ ऐसे जीव ससार में उभय-भ्रष्ट है (अर्थात् इस लोक एव परलोक दोनों इनके बिगड़े हैं) कि जो स्वय अपने आत्मतत्त्व को नहीं समझते, तथा आत्मा के जाननेवाले अन्य सज्जनों की निदा करके आनद मानते हैं।

१४ अन्य अंटसंट बातें करना छोड दो; वह तो संक्षेप में मात्र एक-दो शब्द में ही समाप्त कर दो और सदैव निजात्मतत्त्व के अभ्यास से आत्मगुणों की वृद्धि करो।

१५ ससार में जीव के जितने भेद हैं, उतने ही कर्मों की झँझट के भेद हैं, और उनसे जीव भ्रमित हो जाता है। तथा भिन्न-भिन्न जीवों के ज्ञान मे जो विविध भेद दिखने में आते हैं वे भी व्यवहारनय से ही हैं - ऐसा तुम समझो। (शुद्धनय से आत्मा एक ज्ञानमय है, उसमें भेद नहीं है।)

१६. हे जीव! शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं - ऐसा जानकर तुम कभी भी शुद्धात्मतत्त्व की भावना को मत छोड़ो। वास्तव में शुद्धनय का सेवन करने वाला जीव सदैव शुद्ध ही रहता है।

१७ जिसप्रकार रास्ते में चलते हुए किसी गरीब-राहगीर को यदि सुवर्ण से भरा हुआ कलश मिल जाय तो वह उसे गुप्त रखता है, उसीप्रकार हे भव्य! तुम अपनी निजात्म-भावना को अपने में गुप्त रखना, गुप्त रूप से उसका अनुभव करना।

१८. जो भव्यात्मा अज्ञान से भव-संसार में फँसकर अनेक प्रकार की झँझटों से प्रतिदिन दुःख का शिकार बनता था, वह आज अपने सत्य स्वरूप का साक्षात्कार होने से आनन्द-समुद्र में केलि कर रहा है।

१९ अरे, देखो तो सही! इस ससार का तमाशा! - जिसमें गिड़-गिड़ाकर (दीन होकर) माँगने पर भी एक पान तक नहीं मिलता और बड़े कष्ट से अज्ञानी अपना पेट भरता है, परन्तु यदि अज्ञान छोड़कर इस ससार से विमुख हो जाओ तो बिना माँगे ही अपने सद्गुणों की वृद्धि होती है।

२० ज्ञानीजनों की चित्तवृत्ति में आत्म-आनन्द की उल्लसित लहरें सदैव अनुभव में आती हैं; वही मनुष्य - अवतार की सार्थकता है; इसके समान दूसरा कोई नहीं।

२१ हे भव्यात्मा! तू समझ-बूझकर कनक-कामिनी तथा धन-धान्य आदि के वैभव की तृष्णा छोड़ दे और अपने चित मे निरन्तर निज आत्मतत्व के वैभव का चिन्तन किया कर।

२२. हे भव्य! संसार की रीति-नीति एवं समस्त व्यवहार को छोड़ दो; एकाकी होकर, निजात्मा की स्थिति का अवलोकन करके समता भाव को साध लो .. . उसी में चित्त को लगा दो।

२३ परमात्मस्वरूप को जिसने देख लिया है, उसको जीव के स्वरूप में छोटे-मोटे का भेद नहीं दिखता, वह सदा-सर्वत्र दोषरहित पवित्र आत्मगुण-सामर्थ्य को ही देखता है।

२४ हे भव्य! विविध लोक में स्थित विविध पदार्थों की तृष्णा को छोड़ दो, अपने ही अंतर में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करके आनन्द से रहो।

२५ जो उत्कृष्ट परम तत्व को सम्यक्रूप से देखते हैं, वे गुरु-शिष्य के भेदभाव को भी नहीं देखते, वे सर्वत्र एकरूप आत्मा को देखते हैं, उस दृष्टि में उनको पवित्र आत्मा का गुणसमूह दिखता है।

२६ सबसे पहले अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण-मनन करना चाहिए, इसके अतिरिक्त प्रयोजनहीन अन्य शास्त्रों का श्रवण-मनन करनेवाला जीव मनपसन्द सुख को कैसे पावेगा?

२७ हे भव्य! यह बात तुम मान लो कि युक्तिपूर्वक शास्त्र के चिन्तन-मनन मात्र से ही जीव को सद्गुणों की प्राप्ति होना असभव है, किन्तु आत्मभावना में परिणति के व्दारा उसकी प्राप्ति सुगम है।

२८ एक घड़ी या आधी-घड़ी भी हररोज जिनाकार (जिनस्वरूप) जैसे अपने स्वरूप का अनुसंधान (ध्यान) करना चाहिए, जिससे भव-भव के कर्मों का ढेर भी उसीप्रकार विलीन हो जायेगा, जैसे सूर्य का उदय होते ही अंधकार विलीन हो जाता है।

२९ व्याकरणादि अनेक शास्त्र पढ़कर बाद मे सयम लूँगा - ऐसा कहकर प्रमादी होना उचित नहीं, क्योंकि इस युग में आयु अल्प है तथा चित्त की शक्ति भी अल्प है।(अत. प्रयोजनभूत कार्य पहले कर लेना चाहिए)।

३० स्व-पर के भेदज्ञान पूर्वक जिसके अतर में अपने पूर्ण गुणों की भावना सदैव विकसित हो रही है, उसे कर्मों का ढेर भी इसप्रकार नष्ट हो जाता है कि जैसे अग्नि का स्फुलिंग लगने पर घास-फूस का ढेर जल जाता है।

३१ हे भव्य! तू आगम के अभ्यास को मत छोड़ना, उसमें कहे हुए तत्व का बार-बार अभ्यास करके, बूँद-बूँद से आत्मा के अमृत का पान करते रहना और कर्मों के क्षय के लिये चित को सावधान रखना।

इस पद का अर्थ अन्य प्रति मे इसप्रकार है - "यह बात बार-बार कहने से तो पुनरुक्तिदोष लगेगा, अत इसका क्या प्रयोजन है?" - ऐसा अपने मन में सोचकर हे भव्य! तू तत्व के अभ्यास को छोड़ मत देना। बार-बार तत्त्व के अभ्यास की रुचि से कर्म की शक्ति को तोड़ देने की यही एक युक्ति पर्याप्त नहीं है क्या? अर्थात् बार-बार तत्त्व के घोलन में पुनरुक्ति-दोष नहीं लगता, अपितु कर्मों का रस छूट जाता है।)

३२. अध्यात्म शास्त्र का अभ्यास करते समय मुमुक्षु को तत्त्व समझने का यत्न करना चाहिए; शब्दों के गुण-दोष के विचार में अटकना नहीं चाहिए। हे भव्य! यदि तुम बुद्धिमान हो तो बार-बार अध्ययन करके तत्त्व समझो।

३३ हे भव्य बुद्धिमान! सर्व शास्त्रो मे पारगत - ऐसे यति मुनिवरों के सान्निध्य मे अतिशय श्रेष्ठ धर्म तथा व्रत-गुण-शील वगैरह का स्वरूप समझकर, उसका तुम दृढतापूर्वक अनुसरण करोगे, तभी तुम सुखी होंगे।

३४ जैसे किसी बुद्धिमान को रास्ते के बीच निधि मिल जाय तो वह उसको गुप्त रखेगा, वैसे जिसने अंतर में आत्मगुण-निधान को देखा, वह गुपचुप उसको सुरक्षित रखकर बढाने का प्रयत्न करेगा।

३५ शुद्ध आत्मगुणों का अभ्यास करते रहने से आत्मा स्वय शुद्ध बनकर सुखी होगा, किन्तु जो शुद्धभाव को छोड़कर मात्र बाह्याचार मे फँसा रहेगा, वह तो कर्म मे ही फँसा रहेगा।

३६ शिवभूति-मूनिराज ने 'तुस-मास' जैसे शब्द का अचचल भाव से जप करके, अनुपम निजात्मतत्त्व का अनुभव पाया और विषम भवों को चूरकर मुक्त हुए।

३७ आहार, परिग्रह, मोह, जरा, भय, शोक इत्यादि देहानुराग जनित भावों को कुचल-कुचल के, अनासक्त होकर, हे भव्य! शुद्ध भाव की प्रीति से तू अपने निजात्मभावों मे आगे बढ उनमे ही प्रयत्नशील बन।

३८ हे भव्य! अपने अंतर में जब तुम स्फटिकमणि की जिनमूर्ति के समान अपने शुद्धात्मा की भावना करोगे, तब कर्मजाल अपने आप क्षणभर में कट जायेंगे और आत्मभावों में तुम परिशुद्ध हो जाओगे।

३९ जब उत्तम कुल, उत्तम क्षेत्र, उत्तम काल, साधुजनों का सत्सग तथा तत्त्व समझने की उत्तम रुचि हो एव ज्ञान-आचरण तथा सहनन भी उत्तम हो, तब समझना चाहिए कि ये सब आत्मभावना की जागृति का फल है। (और ऐसा समझकर आत्मभावना वृद्धिंगत करना चाहिए।)

४० जो देवसमूह से सदा वंदित हैं और कभी म्लान नहीं होता - ऐसे अखड वीतराग निजात्मा का एक क्षणभर के लिये भी जो भव्यजीव स्मरण करेगा, वह देवलोक में जायेगा, जहाँ अमरीगण (देवगण) का वास है।

४१ जैसे घास के तिनके की बाड़ मदमाते हाथी को रोक नहीं सकती, वैसे जिसने अकिंचन (परिग्रह से रहित) आत्मा का स्वाद चख लिया है - ऐसे मुमुक्षु को बाह्य परिग्रहों की बाड़ आत्मसाधना मे विघ्न नही कर सकती।

४२ उत्तम तितिक्षा-सहनशीलता आदि दश धर्म, पाँच व्रत-समिति, [illegible] रत्न, तीन गुप्ति, एव बारह तप - ये सब निज-आत्मतत्त्व के अनुभव में समाये हुए हैं।

४३ अधिक क्या कहे? - दर्शनविशुद्धि आदि १६ प्रकार के भाव, बारह प्रकार की अध्रुव आदि वैराग्य अनुप्रेक्षाये एव अनेक प्रकार के परिषहों का विजय - ये सभी तभी सभव है कि जब निजात्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ हो, इसके बिना ये सब असभव जानो।

४४ जो जीव आत्मध्यान में अनुलग्न रहेगा, वही छह आवश्यक गुणों को प्राप्त करेगा, एव पाँच आचार, चार आराधना तथा जय, धैर्य, त्याग वगैरह उत्तम गुणों का समूह भी उसको ही प्राप्त होगा।

४५ सभी शास्त्र निश्चयनय और व्यवहारनय का योग्य ज्ञान कराते हैं, नयविवक्षा के बिना भी कोई शास्त्र हो - ऐसा तो आजतक किसी विद्वान ने नहीं जाना।

४६ अनेक नयों से युक्त जिनागम के द्वारा ही विद्वान पुरुष आत्मा को जान सकेगा, नयविहीन ऐसे एकान्त मत में रहा हुआ मिथ्याज्ञानी कभी आत्मा को नहीं जान सकेगा।

४७ जो जीव, तत्त्व की पढ़ी-सुनी बाते करके अपने को तत्त्वज्ञ मान लेता है वह तो बालक है, और जो ज्यादा बाते करना छोड़कर अतर में सदैव आत्मानुभूति के आनद का स्वाद लेते हैं, वे मुनिनायक हैं।

४८. निज आत्मतत्त्व का स्वाद (अनुभव) सो सम्यग्दर्शन है, आत्मस्वरूप का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में दृढ स्थिति सो सम्यक् चारित्र है; ऐसे रत्नत्रयवंत जीव तीनों लोक में सदा पूज्य हैं।

४९ परमात्म तत्त्व के प्रतिपादक शास्त्र के मात्र एक ही वचन से भी, जो सारभूत आत्मतत्त्व को जान लेता है, वह तो शास्त्र-समुद्र का पार पा जावेगा, किन्तु अन्य लोग आत्मज्ञान के बिना दिन-रात पढकर थक जावें तो भी शास्त्र का या भव का पार नही पा सकते।

५० अत महा मुनीश्वर पहले परमात्मा के अगणित गुणसमूह की स्तुति करके, मद-मान रहित होकर, निर्मल भाववाले सज्जनों को शास्त्र द्वारा परमात्म तत्त्व का उपदेश देते हैं।

५१ श्री जिनदेव के मुख-कमल से निकले हुए तथा मुनिपति-गणधरों के द्वारा गूँथे हुए छब्बीस करोड अक्षरात्मक ऐसे अपार महिमावत आगम - को कोई अल्पज्ञ अपने अल्प वचनों के द्वारा कैसे कह सकता है ?

५२ चाहे कोई ११ अंग तक के शास्त्र प्रतिदिन पढ लिया करे, किन्तु यदि आत्मतत्त्व का बोध नहीं करता तथा जिनदेव समान निजाकार को अपने में नहीं देखता, तो वह जीव कल्याण-प्राप्ति के लिये योग्य नहीं है।

५३ चाहे ग्रैवेयक आदि देवलोक में अवतार हुआ हो तो भी भव्यजीव आत्मभावना करते हैं और आत्मज्ञान पाते है। जिनमें भव्यत्व नही है, वे कभी भी आत्मभावना नहीं करते और सुख नही पाते।

५४ जीव यदि क्रोधवश होकर अपनी मनमानी करेगा तो नरक में जाकर उसे अनेक तरह के दु ख भोगने पड़ेंगे और यदि सारभूत आत्मतत्त्व का रहस्य जानकर उसके भाव में स्थिर होगा तो वह मुक्त होकर परम पद को पावेगा।

५५ जैसे गाय की माँसपेशी के सदृश दूध (अलग) रहता है, उसीप्रकार कर्मजाल के बीच मे सर्वत्र चेतन-आत्मा रह रहा है, ऐसे विशिष्ट चेतन-स्वभावी आत्मा का कर्मसमूह के साथ सादृश्यता कौन कहेगा ? अथवा आत्मा के निर्मल गुणों को छो.. कर्मजनित भावो का ग्रहण कौन करेगा ?

५६ क्षीर और नीर (दूध तथा पानी) मिश्रित होते हुए भी हंस, स्वभाव से ही बिना परिश्रम के क्षीर को ही पीते हैं, वैसे सज्जन ज्ञानी हस शास्त्र-समुद्र में से भेदज्ञान के द्वारा केवल आत्मा के सद्गुणों का ही ग्रहण करते हैं।

५७ सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र - ये तीनों एक आत्मा के ही रूप है, तीन भेद तो मात्र उपदेश देते समय कहने मे आता है।

५८ श्रेष्ठ सवर, निर्जरा तथा मोक्ष - ये तीनों भी वस्तुत एक हैं, ये तीनों परिणाम जीव में तन्मय हैं. तीन भेद तो कहने मात्र हैं।

५९ हे भव्य! तुम ऐसी परिणति को साध लो कि जिससे पुण्य-पापरूप क.. मिट जाये, ससार के त्रिविध ताप दूर हो और परम सिद्धपद की प्राप्ति हो।

६०. एकांत स्थान में जिसकी आकृति वज्रस्तंभ के समान स्थिर हो, जिसके पग तिल-तुस मात्र भी डिगे नहीं, जो स्वयं अपने आप में उपास्य होकर रहे, वह भव्य जीव मोक्ष को अवश्य पाता है।

६१ 'मानो पत्थर की मूर्ति हो' - इसप्रकार स्थिर भाव से, बिना हिले-डुले एकाग्र चित से आत्मगुणों को देखनेवाला जीव आनद के साथ मुक्ति-रमणी का प्रियतम बन जायेगा।

६२ संदेहरहित तत्त्वज्ञाता के अंतर में जिस सुख की अनुभूति होती है, वही सच्चा सुख है; इसके अतिरिक्त सुख के नाम से अन्य जो कुछ है, वह तो स्वप्नवत् अथवा इन्द्रजाल जैसा है।

६३ जिनका चित्त ख्याति-लाभ-पूजादि की लालसा से छूटकर निर्मल आत्म-गुणों को धारण करता है, उनकी महिमा का क्या कहना ? इन्द्रादि देवो के व्दारा भी वे वन्दनीय हैं।

६४ अपने चित्त में यह बात सदा याद रखो कि देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। आनन्द के समय में भी सदा ऐसे तत्त्व को जो ध्याता है, उसके कठिन कर्मों का ढेर भी छूट जाता है।

६५ बड़े-बड़े कर्मबध, आस्रव तथा सवर-निर्जरा आदि का स्वरूप जानना - यह ससारी जीव के लिये कठिन बात है, भवभ्रमण में जीव को ये कर्म सदैव आते-जाते रहते हैं, इनके रहस्य को मात्र जिनदेव ही जानते हैं।

६६. यह बात सभी ज्ञानी जानते हैं कि अनेकविध शास्त्रों के स्वाध्याय से कोई हानि नहीं, क्योंकि तत्त्व प्रतिपादन की शैली में भेद हो तो किसी न किसी प्रकार से उनमें आत्मतत्त्व का प्रतिपादन होता ही है।

(अन्य प्रति में इसका अर्थ इसप्रकार है :- शास्त्रों में जिन अनेक ज्ञेयों का प्रतिपादन है, उन ज्ञेयों के एक भागरूप स्वयं अपना आत्मा भी स्वज्ञेय है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं।)

६७ शास्त्रकारों ने जनता की भाषा मे (लोक भाषा मे) तत्त्व इसप्रकार समझाया है कि जनता सुगमता से उसे समझ सके एव अनुसरण कर सके और तत्त्व जानने में उलझन न हो।(यहाँ इस भव्यामृत-काव्य के रचयिता कहते हैं कि भव्य जीव आसानी से समझ सके तथा अनुसरण कर सके - इस हेतु से यह काव्य मैंने सुललित कन्नड भाषा में लिखा है। उसी का यह सुगम हिंदी भाषा मे अनुवाद है।)

६८. शब्द-शास्त्र का विस्तार तो अपार है और यदि आयु भी अपार हो, तब तो उन सबका सुविचार कर्तव्य है; परन्तु आयु तो अति अल्प है तथा अकेले शब्द-शास्त्र से तो कोई मुक्ति नहीं हो जाती, अत काल को व्यर्थ न गँवा करके प्रयोजनभूत तत्त्व में बुद्धि लगाना चाहिए।

६९ खडे-खड़े या बैठे-बैठे प्रतिदिन एक क्षणभर के लिये भी जो आत्मतत्त्व का ध्यान करता है, वह कदाचित् मदबुद्धि या जड़ जैसा हो तो भी अक्षय सुख को पावेगा।

७० धोखा देना ही अपना धधा - ऐसा मानकर जो इस संसार में धोखेबाजी से वर्तता है और अन्य की भलाई नहीं देख सकता, वह जीव नारकी हो करके दीर्घ काल तक दु खसागर में तड़पता है, उसको कहीं भी विश्राम नहीं मिलता।

७१ यत्नपूर्वक कषायो को दूर कर और बिना भूले दिन-रात विशुद्ध तत्त्व के ध्यान में अभ्यास कर। बार-बार उसका चिन्तन करने से जीव मुक्त होगा।

७२ जैसे कोई भाग्यवान रसिक जीव सपूर्ण चन्द्रमंडल का स्वामी हो जाय और उसको अपनी सम्पत्ति माने, वैसे तत्त्वरसिक मुमुक्षु जीव को पूर्णिमा जैसे अपने पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार करके, हररोज उस निजतत्त्व को ही अपनी सम्पत्ति के रूप में देखना चाहिए तथा कनक-कामिनी की आशा छोड देना चाहिए।

७३ जैसे बिजली के प्रकाश से भरे हुए घर की खिड़कियों मे से प्रकाश की किरणें बाहर फैलती हैं, उसीप्रकार कोटि सूर्य जैसा प्रभावान आत्मा इस शरीर-घर में स्थित है, उसकी ज्ञान-किरणो के फैलाव के लिये पाँच इन्द्रियरूपी खिड़कियाँ हैं।

७४ उपमातीत सुख के समुद्ररूप जो मोक्ष है, वह आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं, आत्मा ही है; आत्मा से बाहर सुख का कोई दूसरा समुद्र नहीं है। एवं तप भी आत्मारूप है; इसके अतिरिक्त जो तप ससार में चलता है, वह तो मायाचाररूप है, असली नहीं।

७५ निर्जन श्मशान ज्ञानी-महाराजा का राज्य है, एकान्त में आत्मभावना उसकी पटरानी है, बड़ा विशाल पर्वत उसका महल है, सम्यग्ज्ञान श्रेष्ठ मत्री है और सत्यचारित्र उसका राजकुमार है।

७६ तथा व्रत-गुण-शील और धर्म - ये उसकी चतुरगी सेना है, ऐसे ज्ञानी महाराजा के सामने उसका बडा शत्रु मोहभूप भी क्षणमात्र में छिन्न-भिन्न होकर मर नहीं जायेगा तो क्या जिन्दा रहेगा? नहीं, मर ही जायेगा।

७७ जो मनुष्य अगणित गुणरत्नो से शोभित सुन्दर आत्मतत्त्व के चिन्तन में सदैव रत है, उसके समान ससार में कौन है? - क्या कोडिया की दीवड़ी सूर्य की समानता कर सकती है?

७८ हे भव्य! अति सूक्ष्म अगुरुलघु आदि धर्म आत्मा में ही हैं, केवलज्ञान तथा अतिशय निजदर्शन भी आत्मामें ही है और अनन्त आत्मतेज रूप वीर्य भी आत्मा में ही है, परतु ससार में जिसकी रति है, वह जीव अपने ऐसे अनत वैभव को देख नहीं पाता।

७९ जो जीव सम्यग्ज्ञान के बल से स्वय चिन्मय-आनन्दरूप और पापो से रहित - ऐसे अपने नित्य एकरूप स्वभाव को जानेगा, वह तीन भव मे मुक्ति को पावेगा।

८०. जो जीव स्थिर होकर अपने स्वरूप का अनुभव करेगा, उसका चित्त वन के बीच में भी शांतरस से भर जायेगा और वह आनन्दित होगा; भ्रांतिरूप घनघोर संसार-वन से वह छूट जायेगा और उसे मोक्षसुख का लाभ होगा।

८१ जैसे मदमत्त हस्ती के आक्रमण को देखकर सभी लोग दूर हट जाते हैं, वैसे धर्मी के अतर मे निर्मल आत्मा को देखकर सभी पाप दूर हो जाते हैं।

८२ एकाशन-उपवास-व्रत-शील-तप आदि से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल, मुक्तस्वरूप आनदकारी भगवान आत्मा के ध्यान से क्षणमात्र में प्राप्त हो जायेगा।

८३ चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान, चौदह जीवस्थान एव उदय-उदीरणा आदि सभी प्रकार पुद्गल के सम्बन्ध से हैं, अकेले शुद्ध जीव मे वे नहीं है।

८४ कोई राजा कोई रंक, कोई स्वामी कोई सेवक, कोई नर-नारी या कोई अन्यतर, तथा कोई देव-मनुष्य-तिर्यंच इत्यादि जो भेद हैं, वे कर्मोदयपूर्वक हैं, शुद्ध आत्मा में वे कोई भेद नहीं हैं।

८५ जिस बुधजन के अन्तर मे समतारस-शमरस भरा है, तथा निर्मल आत्म-अनुभूति एव सुदर-सुखद सम्यग्ज्ञान है, उसका नाम सुनते ही दुष्ट मोहराज, क्रूर यमराज या कुसुमायुधवाले कामराज भी दूर भाग जाते है।

८६ रागरहित चिद्रूप पूर्णानंद का समुद्र आत्मा, उसी में सच्चा सुख हैं, इसके सामने संसार के इन्द्रियसुख तो जुगुनू जैसे हैं, उनमें सुख मानना - यह तो मात्र दुर्बुद्धि का प्रसार हैं।

८७ मोक्षार्थी सज्जन के लिये 'आत्मा' ये दो अक्षर ही बस है, उसमे तन्मय होनेवाले को माक्षसुख हाथ में ही हैं।

८८ तथा उससे भी सुलभ ऐसा एक अक्षर हैं 'ॐ'। जो सदा अपने अंतर में उसके भाव का ध्यान करता हैं, उसके लिये मुक्तिसुंदरी के अधरामृत का आस्वाद तैयार हैं।

८९ दीपक के बिना लोग चाहे जितना प्रयत्न करे तो भी घर में भरे हुए अधकार को दूर नही कर सकते, किन्तु एक छोटी-सी बती जलाने पर तत्क्षण ही वह अधकार दूर हो जाता है। वैसे ज्ञान-प्रकाश के व्दारा ही अज्ञान-अधकार दूर होता है, अन्य किसी उपाय से नही।

९० जैसे सुवर्ण-पाषाण में सोना, तिल में तेल, दूध में घी, बीज में वृक्ष तथा लकडी में आग, कण-कण में रहा है, वैसे शरीर-घट में सर्वत्र जीवात्मा रहा हुआ है।

९१ मिट्टी में रहा हुआ अशुद्ध सुवर्ण भी आग के ताप से शुद्ध हो जायगा, वैसे नवतत्त्व में रहा हुआ अशुद्ध जीव भी ध्यान-तपरूप अग्नि में शुद्ध हो जायगा।

९२. यह एक मजेदार बात हैं कि अनेक दृष्टांत देकर के अबुधजनों को तत्त्व की बात समझाना - इस रीति से ज्ञानी के सग में रहा हुआ अज्ञानी भी सुज्ञानी बन जावेगा।

९३ जैसे दीपक के मोह से आकर्षित पतग उसमे गिर कर जल जाता है एव दीपक को भी बुझा देता है, वैसे गुणमणि-चेतन को नही जाननेवाले अज्ञानी लोग पुद्गल मोह मे पड़ कर विषयों की आग मे जलते रहते हैं।

९४ जीव जब निजस्वरूप को देख पाता है, तब बहुत कष्ट से उपार्जित किये हुए रत्नादि वैभवों को भी इसप्रकार छोड़ देता है, जैसे कुत्ती का दूध।

९५ एकान्त निर्जनस्थान में रहकर पूर्णानद मे मग्न रहनेवाला ज्ञानी, जगत के सज्जनों के अतिरिक्त सामान्य लोगों की दृष्टि मे पागल लगता है, क्योंकि उन लोगों मे लेशमात्र ज्ञान नहीं है।

९६ स्त्री-पुत्र-मित्रादि के प्रेम को छोड़कर, पाप के पडलों को तोड़ने के लिये घनघोर वन-जंगल में जाकर तप करते-करते जिसका शरीर हाड़-पिंजर जैसा बन गया है - ऐसे किसी (अन्यमती) मनुष्य को देखकर कितने ही लोग डरते हैं - परन्तु -

९७ शील-समूह से सुशोभित सम्यक्-मतिवाले मुनिराज दर्शन से तो भय तीन काल में भी नहीं टिकता, जैसे झझावात के सामने घनघोर बादल बिखर जाते है, वैसे जैनी मुनिवरों के दर्शन से भय दूर हो जाता है।

९८ तीन लोक में श्रेष्ठ शुद्धात्म तत्त्व को जिसने जान लिया है, अत जो शुद्ध है तथा सहज वृद्धिशील है, उसके लिये कर्म की ८ मूल प्रकृति या १४८ उत्तर प्रकृति कुछ भी नहीं है।

९९ सूरज को अन्धकार ने घेर लिया - ऐसा तीनलोक मे कभी देखा या सुना है ? - नही, वैसे आत्मज्ञानी जीव को कर्म के जाल घेर ले - ऐसा कभी नही बनता।

१०० जैसे काँच के ढलाव पर से उडद क्षणमात्र में सरक जाते हैं, उतने क्षण के लिये भी जो अपने धर्म को जानकर आत्मा में निश्चल स्थिति करेगा, वह जीव नागेन्द्र से भी वंद्य होगा और सदैव सुखी रहेगा।

१०१ ससार मे सुखों की कामना से प्रेरित होकर कोई जीव बाह्य तप इत्यादि शुभ अनुष्ठान करे तो भी उससे प्राप्त भवनवासी आदि असुर-देवलोक के भोगों का सुख भोग कर फिर वह ससार मे ही भ्रमण करेगा।

१०२. जो अपने आगे-पीछे की बात (भूत-भविष्य का परिणाम) नहीं जानता, वही भव-सुख (इन्द्रिय-विषयों) के लिये तड़पता हैं, जो अपने आगे-पीछे की बात को (भूत-भविष्य के अपने अस्तित्व को) जानता हैं, वह कभी संसार की जरा भी चाहना नहीं करता।

१०३ हे भव्य! किसी भी प्रकार पहले आत्मज्ञान कर लो, तब तुम स्वय ज्ञानमूर्ति सुखधाम बन जाओगे। ज्ञानरूप जो आत्मा साध्य हैं, उसे अनुभव मे लेने से वह स्वय सुखरूप परिणमित हो जायेगा -

जैसे तैसे हो सही, कर लो आतमज्ञान।
बन जाएगा आप तब, ज्ञानमूर्ति भगवान।।

१०४ हे परम नित्यरूप आत्मा! तेरी जय हो,
हे निर्मल शांत चिन्मय आत्मा! तेरी जय हो।
हे भावरहित पापनाशक आत्मा! तेरी जय हो;
हे क्रोधरहित पवित्र आत्मा! तेरी जय हो।।

१०५ हे परम आनंदधाम आत्मा! तेरी जय हो;
हे चिद्रूप सकलगुणमंडित महिमावंत आत्मा! तेरी जय हो।
हे नित्य आनन्द के निलय आत्मा! तेरी जय हो;
हे चैतन्यगुणभूषण आत्मा! तेरी जय हो।।

१०६. हे अघनाशक मंगल आत्मा! तेरी जय हो;
हे अनुपम अष्टगुणधारी मंगल आत्मा! तेरी जय हो।
हे सुखकरन मंगलकरन आत्मा! तेरी जय हो,
हे सर्वलोक-वंद्य-चरण-मंगल आत्मा! तेरी जय हो।।

१०७ यह भव्यामृत-काव्य गोम्मट-शास्त्र का सार है, परमार्थ जीवन के लिये माँ-बाप-बधुसमान उपकारी है और प्राभृत है। श्री नेमीश्वर-चरणकमल के स्मरण एव नमनपूर्वक, दृढ विश्वास के साथ यह काव्य लिखा गया है।

यह सार हैं श्रेष्ठ गोम्मट का, यह हैं माँ-बाप-बंधु सब परमार्थ जीवन का।
नेमीश्वर-पादांबुज दृढ विश्वास लिए लिखा हुआ, यह सार प्राभृत का।।

१०८ जिसको अविनाशी सुख की चाहना हो - ऐसे भव्यजीवों! प्रतिदिन इस भव्यामृत का सेवन करो, इसका पठन-मनन तथा इसकी भावना करो।

अनन्य सुख की कामना हो जिनको प्रतिदिन।
भव्यामृतका पाठ और मनन करो अनुदिन।।

★ अष्टोतर-शत (१०८) पदवाली इस रचना मे, प्रतिपाद्य-वस्तु उत्कृष्ट सार मे सार आत्मतत्व है, उसको जो जानेगा-मानेगा, वह तीसरे भव मे या अधिक से अधिक आठ भव मे मोक्ष को पावेगा।

अष्टोत्तर शत पद वाले इसमें सारात् सार आतमरूप हैं।
जो जाने माने मुक्त सो होगा तीन जन्म में या आठ में।।

★ *जो भव्य श्रद्धापूर्वक इस 'भव्यामृत' का सेवन करेगा, उसके लिये ता यथा नाम सच्चे अर्थ में ही यह 'अमृत' है। दूर्जनो को यह कालकूट विष जैसा लगेगा, परन्तु सज्जनों को तो यह 'नेमीश्वर-वचनामृत' मुक्तिदायक अमृत है -*

'भव्यामृत' है सार्थक उनको जो श्रद्धा से सेवेंगे।
कालकूट असंतो को मुक्तिद नेमीश्वर-वचनामृत हैं।।

वाद-विवाद मा पडीश मा, तु करजे निज कल्याण।
मौन सह साधी आत्म ने, करजे मुक्ति प्रयाण।।

आत्म-हित भावना

आज मारा जीवन मा शु शु कर्यु में हित नु?
शु कार्य करवु रही गयु, क्षण क्षण अरे रे। आत्म नु?
क्या दोष छोड्या आत्म थी, क्या गुण नी प्राप्ति करी?
कई भावी उज्वल भावना, सम्यक्त्व आदिक भाव नी?
कई-कई क्षणे चितन कर्युं, निज आत्म ना शुद्ध गुण नु?
कई-कई रीते सेवन कर्युं, में देव गुरु धर्म नु?
रे। जीवन मोंघु जाय मारु, शीघ्र साधु धर्म ने,
फरी फरी छे दुर्लभ अरे। आ पामवो नर देह ने,
सम्यक्त्व साधु, ज्ञान साधु, चरण साधु आत्म मा।
अे रत्नत्रय ना भाव, करु सफलता आ जीवन मा
प्रमाद छोडी ने हवे हु भावु हु निज आत्म ने
निज आत्म ना भावन वडे करु नाश आ भवचक्र ने
हो अखण्ड मुज आराधना, प्रभु वीतराग प्रभाव थी
अपूर्व हे अवसर अहो, आ छुटवा भवचक्र थी।

॥ श्री ॥

आचार्य श्री माघनंदि कृत ध्यान करने योग्य

सूत्र

राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ पंचेन्द्रिय विषय व्यापार मनोवचन कायकर्म भावकर्म द्रव्यकर्म, नोकर्म ख्याति पूजा लाभ दृष्टश्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूप निदान माया मिथ्यात्व शल्यत्रय गारवत्रय दंडत्रयादि विभावपरिणाम शून्योऽहम् ॥१॥

अर्थ - मेरी आत्मा राग द्वेष मोह से रहित है, क्रोध मान माया लोभ से रहित है, पाँचों इन्द्रियो के विषयभूत समस्त व्यापारों से रहित है, मन वचन काय की समस्त क्रियाओ से रहित है, रागादिक भावकर्म ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म से सर्वथा रहित है। अपनी प्रसिद्धि पूजा लाभ, अपने लिये इष्ट भोग, सुने हुए वा अनुभव किए हुए भोगों की आकाक्षा से सर्वथा रहित है। अर्थात् निदानशल्य से रहित है। माया वा मायाचारी शल्य से रहित है, तथा मिथ्यादर्शन रूप शल्य से रहित है, इसप्रकार तीनों शल्यों से सर्वथा रहित है। रस-गारव ऋद्धि-गारव और स्वास्थ्य-गारव - इन तीनों गारव अर्थात् गौरवो अभिमान से रहित है। मनोदंड, वचनदड, कायदड - इन तीनों दडों से रहित है। इसप्रकार मेरी यह आत्मा समस्त विभाव परिणामों से रहित है। अर्थात् मैं इन सब विभाव परिणामों से शून्य हूँ, रहित हूँ।

निजनिरंजन स्वशुद्धात्म सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुष्ठान-रूपो भेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसंजात वीतराग-सहजानंद सुखानुभूतिरूपमात्र लक्षणेन स्वसंवेदनज्ञान सम्यक्प्राप्त्या भरितविज्ञानेन गम्यप्राप्त्या भरितावस्थोऽहम् ॥२॥

अर्थ - मेरी वह आत्मा समस्त कर्म वा विकारों से रहित स्वय शुद्ध स्वरूप है। उस शुद्ध स्वरूप अवस्था में, अपनी उसी शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान होता है, उसी का ज्ञान होता है और उसी शुद्धात्म स्वरूप में लीन होने रूप क्रिया या चारित्र होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्म स्वरूप अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, तथा उस अभेद रत्नत्रय से निर्विकल्प (जिसमे कोई विकल्प न हो) समाधि या ध्यान प्राप्त होता है। उस ध्यान मे जो वीतराग और स्वाभाविक आनन्द तथा सुख प्राप्त होता है, वही वीतराग सहजानद सुख ही मेरे आत्मा का लक्षण है। उसी वीतराग सहजानद से मेरी आत्मा में स्वसवेदन अर्थात् अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव रूप ज्ञान की प्राप्ति बहुत उत्तम रूप से हो जाती है। उसी आत्मा के अनुभव रूप ज्ञान

की प्राप्ति से स्वात्मा मे लीन होने रूप सम्यक्‌चारित्र की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मुझे परम शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है। उसी अभेद रत्नत्रय से मेरी यह आत्मा पूर्ण रूप से भरपूर हो रहा है। परमध्यान में अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।

सहज शुद्धपारिणामिक भावस्वरूपोऽहम् ॥३॥

अर्थ - मैं शुद्ध पारिणामिक भाव हूँ। शुद्ध आत्मा का जीवत्व भाव स्वाभाविक पारिणामिक भाव है। तत्स्वरूप ही मेरी आत्मा है।

सहज शुद्ध ज्ञानानन्दैक स्वभावोऽहम् ॥४॥

अर्थ - मैं स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान से उत्पन्न होने वाले परमानन्द स्वरूप हूँ।

भेदाचल निर्भरानन्द स्वरूपोऽहम् ॥५॥

अर्थ - मैं समस्त आनन्दो से भिन्न तथा निश्चित रूप से रहनेवाले परमानन्द स्वरूप हूँ।

चित्कला स्वरूपोऽहम् हूँ ॥६॥

अर्थ - आत्मा मे रहने वाली चैतन्य स्वरूप जो कला है, जिसको शुद्ध चैतन्य कला कहते हैं, उस कला स्वरूप ही मैं हूँ।

चिन्मुद्रांकित निर्विभाग स्वरूपोऽहम् ॥७॥

अर्थ - शुद्ध चैतन्य स्वरूप मुद्रा से सुशोभित और जिसका किसी भी प्रका से विभाग नहीं हो सकता, ऐसे शुद्ध आत्ममय मैं हूँ।

चिन्मात्र मूर्ति स्वरूपोऽहम् ॥८॥

अर्थ - मैं शुद्ध चैतन्यमात्र की मूर्ति रूप ही हूँ।

चैतन्यरत्नाकर स्वरूपोऽहम् ॥९॥

अर्थ - मैं शुद्ध रत्नत्रय त्रय से भरे हुए शुद्ध चैतन्य रूप रत्नाकर समुद्र रू ही हूँ अर्थात् मेरी आत्मा में रत्नत्रय आदि अनन्त रत्न भरे हुए हैं।

चैतन्याभरदुम स्वरूपोऽहम् ॥१०॥

अर्थ - मैं शुद्ध चैतन्यमय कल्पवृक्ष स्वरूप हूँ।

चैतन्यामृताहार स्वरूपोऽहम् ॥११॥

अर्थ - मैं चैतन्य शुद्ध चैतन्यमय अमृतरूप आहार करने वाला या उसी आह स्वरूप हूँ।

चैतन्यरस रसायन स्वरूपोऽहम् ॥१२॥

अर्थ - मैं शुद्ध चैतन्य रूप रस से बने हुए रसायन स्वरूप हूँ।

चैतन्यचिह्न स्वरूपोऽहम् ॥१३॥

अर्थ - शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के जो अनन्त चतुष्टय (अनत ज्ञानादिक) चिह्न हैं, तत्स्वरूप ही मैं हूँ।

चैतन्यकल्याणवृक्ष स्वरूपोऽहम् ॥१४॥

अर्थ - अत्यन्त चैतन्य स्वरूप आत्मा ही मोक्ष की प्राप्ति रूप कल्याण करनेवाला एक वृक्ष है, तत्स्वरूप ही मै हूँ।

भावार्थ - मेरी आत्मा भी मोक्ष की प्राप्ति रूप कल्याण करने वाली है।

चैतन्यपुंज स्वरूपोऽहम् ॥१५॥

अर्थ - यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा अनतज्ञान अनतदर्शन आदि अनत गुणों का समूह है। उसी प्रकार मैं भी उन्ही अनत गुणों का पुजरूप या समूह रूप हूँ।

ज्ञानज्योति स्वरूपोऽहम् ॥१६॥

अर्थ - समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान परमेत्कृष्द प्रकाश रूप है, उस प्रकाश रूप ही मै हूँ।

ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूपोऽहम् ॥१७॥

अर्थ - यह शुद्ध आत्मा केवलज्ञान रूपी अमृत का समस्त लोक में बहने वाला प्रवाह स्वरूप है। - ऐसे ही ज्ञानरूपी अमृत का प्रवाह रूप मैं हूँ।

ज्ञानार्णव स्वरूपोऽहम् ॥१८॥

अर्थ - यह परम शुद्ध आत्मा अनन्त ज्ञानरूप जल से भरा हुआ एक समुद्र के समान है - ऐसे ही ज्ञान के समुद्र के समान मेरी आत्मा है अर्थात् मैं भी ऐसा ही हूँ।

निरुपम निर्लेप स्वरूपोऽहम् ॥१९॥

अर्थ - यह परम शुद्ध आत्मा उपमा रहित और समस्त रागादिक लोकों से रहित है - ऐसे ही शुद्ध आत्म स्वरूप मैं हूँ।

अथवा - "**निरुपमलेपस्वरूपोऽहम्**" ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ इस प्रकार है। यह परम शुद्ध आत्मा उपमा रहित ऐसे अनत ज्ञानादि गुणों से लिप्त हो रहा है, लिप रहा है - ऐसे ही उपमा रहित ज्ञानादि गुणरूपी लेपों में भी भरा हुआ हूँ।

निरवद्य स्वरूपोऽहम्॥२०॥

अर्थ - यह परम शुद्ध आत्मा राग- द्वेषादिक समस्त निद्य स्वभाव से रहित है। उसी प्रकार मैं भी रागादि समस्त निद्यनीय भावों से रहित हूँ।

शुद्धचिन्मात्र स्वरूपोऽहम्॥२१॥

अर्थ - इस आत्मा का स्वरूप अत्यन्त शुद्ध चैतन्य मात्र है अर्थात् शुद्ध केवलज्ञानादि स्वरूप है। तत्स्वरूप ही मैं हूँ।

शुद्धाखण्डैकमूर्त स्वरूपोऽहम्॥२२॥

अर्थ - यह परम शुद्ध आत्मा परम शुद्ध है, और अखड एक मूर्त स्वरूप है। उसी प्रकार परम शुद्ध अखड एक मूर्त स्वरूप मैं हूँ।

भावार्थ - मैं अपने शुद्ध और अखड प्रदेशो की ही मूर्तिरूप हूँ।

अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहम्॥२३॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा के समान मैं भी अनत ज्ञानस्वरूप हूँ।

अनंतदर्शन स्वरूपोऽहम्॥२४॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा के समान मैं भी अनत दर्शन स्वरूप हूँ।

अनन्तसुख स्वरूपोऽहम्॥२५॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा के समान मैं भी अनत सुखस्वरूप या अनत सुखमय हूँ।

अनन्तशक्ति स्वरूपोऽहम्॥२६॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा के समान मैं भी अनत शक्ति स्वरूप अथवा अनत वीर्य स्वरूप हूँ।

सहजानन्द स्वरूपोऽहम्॥२७॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा के समान मेरी भी यह आत्मा स्वाभाविक रूप से होने वाले केवल आत्मा से उत्पन्न होने वाले आनद या परमानद स्वरूप है।

परमानन्द स्वरूपोऽहम्॥२८॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा परमानदस्वरूप अथवा अनत सुखमय है।

परमज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम्॥२९॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा केवलज्ञान रूपी परम ज्ञान से उत्पन्न होने वाले परम आनन्दमय है।

सदानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३०॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा सदा काल या अनतानत काल तक रहने वाले परमोत्कृष्ट आनन्दमय है।

चिदानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३१॥

अर्थ - परम शुद्ध चैतन्य से अथवा परम शुद्ध ज्ञानादि गुणों से उत्पन्न होने वाले परम आनन्दमय ही मेरी आत्मा है।

निजानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३२॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा अपने ही परम शुद्ध परमात्मस्वरूप से उत्पन्न होने वाले परम शुद्ध आनन्दमय है।

निजनिरंजन स्वरूपोऽहम् ॥३३॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा सिद्धों के समान भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से कर्मों से रहित है। इसलिए मैं समस्त रागादिक विकार भावों से रहित हूँ।

सहजसुखानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३४॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा सिद्धों के समान केवल आत्मा से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले परम सुख या परम आनदमय है।

नित्यानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३५॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा परम शुद्ध है, अथवा मैं परम शुद्ध आत्मा स्वरूप हूँ।

शुद्धात्म स्वरूपोऽहम् ॥३६॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा परम ज्योति स्वरूप या परम केवलज्ञानमय है।

परम ज्योतिः स्वरूपोऽहम् ॥३७॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा परम ज्योतिस्वरूप या परम केवलज्ञानमय है।

स्वात्मोपलब्धि स्वरूपोऽहम् ॥३८॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान को अपनी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो गई है, और उस शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही स्वरूप वाला मैं हूँ।

स्वात्मानुभूति स्वरूपोऽहम ॥३९॥

अर्थ - भगवान सिद्ध परमेष्ठी को जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। वैसा ही अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला मैं हूँ।

शुद्धात्मसंवित्ति स्वरूपोऽहम् ॥४०॥

अर्थ - भगवान सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञानमय हैं। उसी प्रकार मैं भी शुद्ध केवलज्ञानमय हूँ।

भूतार्थ स्वरूपोऽहम ॥४१॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों की आत्मा का स्वरूप आत्मा का यथार्थ स्वरूप है। उसी प्रकार मेरी आत्मा का स्वरूप यथार्थ स्वरूप अनन्त चतुष्टयमय है।

परमात्म स्वरूपोऽहम् ॥४२॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान समस्त कर्मों को नष्ट करके परमात्मा बन गए हैं।उसी प्रकार मेरी आत्मा भी परमात्मस्वरूप ही है।

निश्चय पंचाचार स्वरूपोऽहम् ॥४३ ॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान निश्चयरूप पचाचार स्वरूप हैं। निश्चय दर्शनाचार, निश्चय् ज्ञानाचार, निश्चय चारित्राचार, निश्चय वीर्याचार और निश्चय पचाचार रूप मेरी आत्मा है।

समयसार स्वरूपोऽहम् ॥४४॥

अर्थ - परम शुद्ध आत्मा को समय कहते हैं। उस शुद्ध आत्मा के सारे अनन्त चतुष्टय गुण हैं। उन अनन्त चतुष्टय गुणों से भरपूर जैसी सिद्धों की आत्मा है, वैसी ही मेरी आत्मा है।

अध्यात्मसार स्वरूपोऽहम् ॥४५॥

अर्थ - इस आत्मा में सारभूत पदार्थ रत्नत्रय है।उसी पूर्ण रत्नत्रयस्वरूप मेरी आत्मा है।

परम मंगल स्वरूपोऽहम् ॥४६॥

अर्थ - इस ससार में परम मगल स्वरूप अरहत 'सिद्ध' साधु और जिन धर्म ये चार ही पदार्थ हैं। इन चारों ही मगलस्वरूप या मगलमय मेरी आत्मा है।

परमोत्तम स्वरूपोऽहम् ॥४७ ॥

अर्थ - इस ससार में परमोत्तम स्वरूप अरहंत, सिद्ध, साधु और जिन धर्म - ये चार ही पदार्थ हैं। इन चारों ही परमोत्तमस्वरूप मेरी आत्मा है।

परम शरणोऽहम् ॥४८॥

अर्थ - इस ससार में जीवों के लिए परम शरण रूप अरहत, सिद्ध, साधु और जिन धर्म - ये चार ही पदेर्थ हैं। इन चारों ही परम शरण रूप मेरी आत्मा है।

परम केवलज्ञानोत्पत्ति कारण स्वरूपोऽहम्॥४९॥

अर्थ - इस ससार मे परमोत्कृष्ट केवलज्ञान की उत्पति का कारण राग-द्वेष-मोह का सर्वथा अभाव ही कारण है और मेरी यह आत्मा भी राग-द्वेष-मोह से सर्वथा रहित है।इसलिए मै भी केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण स्वरूप हूँ।

सकलकर्म क्षयकारणस्वरूपोऽहम्॥५०॥

अर्थ - समस्त कर्मों के क्षय का कारण अव्दैत स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी हैं,क्योंकि समस्त सिद्धों की आत्मा और उनके समस्त गुण समान हैं, एक रूप ही हैं। मेरी आत्मा और गुण सब उन्हीं के समान हैं। इसलिए मैं भी परम अव्दैत स्वरूप हूँ।

परमाव्दैत स्वरूपोऽहम्॥५१॥

अर्थ - अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करना स्वाध्याय है। ऐसा स्वाध्याय अरहत व सिद्धों के होता है। मेरी आत्मा भी परम शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाली है। इसलिए मैं भी परम स्वाध्याय स्वरूप हूँ।

परम समाधि स्वरूपोऽहम्॥५३॥

अर्थ - परम शुक्ल ध्यान को परम समाधि कहते हैं। मेरी यह आत्मा भी परम शुक्लध्यानमय है, इसलिये मैं भी परम समाधि स्वरूप हूँ।

परम स्वास्थ्य स्वरूपोऽहम्॥५४॥

अर्थ - इस ससार में जन्म, मरण और जरा या बुढ़ापा - ये तीन ही रोग हैं। अरहत और सिद्ध भगवान इन तीनों रोगो से रहित है। इसलिए वे परम नीरोग वा परम स्वस्थ हैं। मेरी आत्मा भी इन तीनों रोगों से रहित सर्वथा स्वस्थ है। इसलिए मैं भी परम स्वास्थ्य स्वरूप हूँ।

परम भेदज्ञान स्वरूपोऽहम्॥५५॥

अर्थ - यह शुद्ध आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। सिद्ध परमेष्ठी के किसी प्रकार का शरीर नहीं है। इसलिए वे ही परम भेदज्ञान स्वरूप हैं। मेरी यह आत्मा भी वैसा ही है, इसलिए मैं भी परम भेदज्ञान स्वरूप हूँ।

परम स्वसंवेदन स्वरूपोऽहम्॥५६॥

अर्थ - अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करना स्वसवेदन है। ऐसा परम स्वसंवेदन सिद्ध परमेष्ठी के होता है। इसलिए अरहत व सिद्ध परमेष्ठी परम स्वसवेदनस्वरूप है। ऐसा ही स्वसंवेदन करने वाला मैं हूँ। इसलिए मैं भी परमस्वसवेदन स्वरूप हूँ।

परम समरसिक भावस्वरूपोऽहम्॥५७॥

अर्थ - समता रस से भरे हुए भावों को समरसिक भाव कहते हैं। परम समता रूपी रस से भरपूर भाव अरहत व सिद्धों के होते हैं। उन्हीं के समान मेरी यह आत्मा है। इसलिए मैं भी परम समरसिक भाव स्वरूप हूँ।

क्षायिकसम्यक्त्व स्वरूपोऽहम्॥५८॥

अर्थ - मैं क्षायिक सम्यग्दर्शन मय हूँ।

केवलज्ञान स्वरूपोऽहम्॥५९॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा केवलज्ञानमय है।

केवलदर्शन स्वरूपोऽहम्॥६०॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा केवलदर्शनमय है अर्थात् मेरी यह आत्मा समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से देखता और जानता है।

अनन्तवीर्य स्वरूपोऽहम्॥६१॥

अर्थ - मेरी यह आत्मा अरहत के समान अनत शक्ति या अनत वीर्य को धारण करने वाला है।

परमसूक्ष्म स्वरूपोऽहम्॥६२॥

अर्थ - नामकर्म के सर्वथा अभाव होने से सिद्धों में सूक्ष्मत्व गुण प्रगट होता है। मेरी आत्मा भी नामकर्म के सर्वथा अभाव स्वरूप होने से परम सूक्ष्मस्वरूप है।

अवगाहनस्वरूपोऽहम्॥६३॥

अर्थ - आयुकर्म के नष्ट होने से अवगाहन गुण प्रगट होता है। मेरी यह शुद्ध आत्मा भी आयु कर्म से सर्वथा रहित है। इसलिए मैं भी अवगाहन स्वरूप या अवगाहन गुण सहित हूँ।

अव्याबाध स्वरूपोऽहम्॥६४॥

अर्थ - वेदनीय कर्म के नष्ट होने से सिद्धों में अव्याबाध गुण प्रगट होता है। मेरी यह शुद्ध आत्मा भी वेदनीय कर्म से सर्वथा रहित है। इसलिए मैं भी अव्यावाधमय हूँ।

अष्टविध कर्मरहितोऽहम्॥६५॥

अर्थ - मेरी यह परम शुद्ध आत्मा सिद्धों के समान ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से सर्वथा रहित है।

निरंजन स्वरूपोऽहम्।।६६।।

अर्थ - राग-द्वेष व आठ कर्मों को अजन कहते हैं। मेरी यह परम शुद्ध आत्मा राग-द्वेष वा आठ कर्मों से रहित होने के कारण निरजन स्वरूप है।

अष्टगुण सहितोऽहम्।।६७।।

अर्थ - भगवान सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार अनतसम्यक्त्व, अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख, अव्यावाध, सूक्ष्म, अवगाहन, अनत वीर्य - इन आठ गुणों से सुशोभित है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी इन्ही आठ गुणों से सुशोभित है।

कृतकृत्योऽहम्।।६८।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान मोक्ष पदार्थ को सिद्ध कर कृतकृत्य हो गए हैं अर्थात् जो कुछ करना था वह, सब कुछ कर लिया है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी कृतकृत्य स्वरूप है।

लोकाग्रवासी स्वरूपोऽहम्।।६९।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान समस्त कर्मों को नष्ट कर लोकाकाश के अग्र भाग पर विराजमान हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी उन्हीं के समान लोकाग्र निवासी है।

अनुपमोऽहम्।।७०।।

अर्थ - ससार में जिस प्रकार अरहत व सिद्धों की कोई उपमा नहीं है। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा की भी कोई उपमा नहीं है।

अचिन्त्योऽहम्।।७१।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों के पूर्ण गुणों का कोई चितवन नहीं कर सकता। उसी प्रकार मेरी शुद्ध आत्मा के भी पूर्ण गुणों का कोई चितवन नहीं कर सकता।

अतर्क्योऽहम्।।७२।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों के गुणों मे "यह गुण है या नहीं?" इस प्रकार तर्क-वितर्क या ऊहापोह नहीं कर सकता। उसी प्रकार मेरी शुद्ध आत्मा के गुणों में भी कोई ऊहापोह नहीं कर सकता।

अप्रमेय स्वरूपोऽहम्।।७३।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों को हर कोई नहीं जान सकता। उसी प्रकार मेरी शुद्ध स्वरूप आत्मा को भी हर कोई नहीं जान सकता। अथवा मेरी शुद्ध आत्मा

अनतानत ज्ञान का भण्डार है, इसलिए भी अप्रमेय है। अथवा मेरी शुद्ध आत्म अनतानत ज्ञानमय होने से प्रमाण स्वरुप है, प्रेमयरूप नहीं।

अतिशय स्वरूपोऽहम् ॥७४॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत वा सिद्ध भगवान अनत अतिशयों से सुशोभित हैं। उसी प्रकार यह मेरी शुद्ध आत्मा भी अनत अतिशयों से सुशोभित है।

शाश्वतोऽहम् ॥७६॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी सदा काल विद्यमान रहते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी सदा काल विद्यमान रहने वाली है।

शुद्ध स्वरूपोऽहम् ॥७७॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा परम शुद्ध है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी परम शुद्ध है।

सिद्ध स्वरूपोऽहम् ॥७८॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान समस्त कर्मों को नष्ट कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी समस्त कर्मों से रहित सिद्धस्वरूप ही है।

सोऽहम् ॥७९॥

अर्थ - मैं वही हूँ। जिस प्रकार सिद्ध भगवान की परम शुद्ध आत्मा समस्त कर्मों से रहित है। वैसा ही मैं हूँ।

घातिचतुष्टयरहितोऽहम् ॥८०॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान का स्वरूप चारों घातिया कर्मों से रहित है। वैसे ही मेरी शुद्ध आत्मा का स्वरूप चारों घातिया कर्मों से रहित है।

अष्टादशदोषरहितोऽहम् ॥८१॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान भूख प्यास आदि अठारह दोषों से रहित हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अठारह दोषों से रहित है।

पंचमहाकल्याणांकितोऽहम् ॥८२॥

अर्थ - श्री तीर्थंकर परमदेव के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष - ये पाँच महा कल्याण होते हैं। यह उनके अत्यत शुद्ध आत्मा के महा पुण्य का प्रभाव है। इसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी परम पुण्यवान और पच महा कल्याणों से सुशोभित है।

अष्टमहाप्रातिहार्यविशिष्टोऽहम् ।।८३।।

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान चमर, छत्र आदि आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित होते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित है।

चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतोऽहम् ।।८४।।

अर्थ - भगवान अरहत के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी चौंतीस अतिशयों से सुशोभित है।

शतेन्द्रवृन्दवंद्यपादारविन्दद्वन्दोऽहम् ।।८५।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव या सिद्ध परमेष्ठी के चरण कमल सैकड़ों इन्द्रों के द्वारा वदनीय हैं। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा के दोनों चरण कमल भी सैकड़ों इन्द्रों के द्वारा वदनीय हैं।

विशिष्टानन्तचतुष्टय समवशरणादि विभूति रूपान्तरंग-बहिरंगश्रीसमेतोऽहम् ।।८६।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव अनन्त चतुष्टय रूप अतरग विभूति और समवशरणादि रूप वहिरग विभूति से सुशोभित है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्त चतुष्टय रूप अतरग विभूति और समवशरणादि रूप बहिरग विभूति से सुशोभित है।

परमकारुण्यरसोपेत सर्वभाषात्मक दिव्यध्वनि- स्वरूपोऽहम् ।।८७।।

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान परम करुणा रूपी रस से भरपूर और समस्त भाषा रूप दिव्यध्वनि स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी भी यह शुद्ध आत्मा परम करुणा रूपी रस से भरपूर और समस्त भाषा रूप दिव्य ध्वनिस्वरूप है।

कोट्यादित्यप्रभासंकाश परमौदारिक दिव्यशरीरोऽहम् ।।८८।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव का शरीर करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान दैदीप्यमान परमौदारिक दिव्य शरीर है। उसी प्रकार मेरी शुद्ध आत्मा का भी यह श रीर करोड़ों सूर्य की प्रभा के समान अत्यन्त दैदीप्यमान परमौदारिक दिव्य शरीर है।

परमपवित्रोऽहम् ।।८९।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेवया सिद्ध भगवान परम पवित्र हैं। उसी प्रकार मैं भी परम पवित्र हूँ।

परममंगलोऽहम् ।।९०।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव परम मगल स्वरूप हैं। उसी प्रकार मैं भी परम मगल स्वरूप हूँ।

त्रिजगद्गरुस्वरूपोऽहम्॥८१॥

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव तीनों जगत के गुरू हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी तीनों जगत की गुरू है।

स्वयंभूरऽहम्॥८२॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान स्वयभू हैं, अपने आप कर्मों को नष्ट कर स्वयभू हुए हैं। उसी प्रकार मेरी यह आत्मा भी समस्त कर्मों से रहित होने के कारण स्वयभू है।

शाश्वतोऽहम्॥८३॥

अर्थ - भगवान सिद्ध परमेष्ठी जिंस प्रकार सदा काल रहने वाले शाश्त हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी सदा काल रहने वाली शाश्त है।

ज्ञानस्वरूपोऽहम्॥८४॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहतदेव तीनों लोकों के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जानने-देखने की सामर्थ्य रखने वाले पूर्ण निर्मल केवलज्ञान स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह परम शुद्ध आत्मा भी त्रिजगत के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ देखने-जानने की सामर्थ्य रखने वाले केवलज्ञान स्वरूप है।

विशदाखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमय सकलविमल केवलदर्शनि स्वरूपोऽहम्॥८५॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान अत्यत निर्मल तथा अखण्ड रूप समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रतिभासित करने वाला पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वरूप है। उसी प्रकार मेरी भी यह शुद्ध आत्मा पूर्ण निर्मल केवलदर्शनमय है।

अतिशयातिशयमूर्तानिन्तसुखस्वरूपोऽहम्॥८६॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान अनन्त अतिशयों की मूर्तिरूप अनन्त सुख स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्त अतिशयों की मूर्ति स्वरूप अनन्त सुख स्वरूप है।

अवार्यवीर्यानिन्तबलस्वरूपोऽहम्॥८७॥

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव जो किसी से भी निवारण न हो सके, अनत बल को धारण करते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनत बल धारण करने वाला है, इसलिए मैं भी अनत बल स्वरूप हूँ।

अतीन्द्रियातिशयामूर्तीकस्वरूपोऽहम् ।।९८।।

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहतदेव अतीन्द्रिय अनेक अतिशयों से सुशोभित होते हुए अमूर्त स्वरूप है। उसी प्रकार मेरी शुद्ध आत्मा अनेक अतीन्द्रिय अतिशयों से सुशोभित होता हुआ अमूर्तस्वरूप है।

अचिन्त्यानन्तगुणस्वरूपोऽहम् ।।९९।।

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान अचिन्त (जो चितवन में भी नहीं आ सकें ऐसे) अनत गुणस्वरूप है। उसी प्रकार मेरी भी शुद्ध आत्मा अचिन्त्य अनत गुणस्वरूप है।

निर्दोषपरमात्मास्वरूपोऽहम् ।।१००।।

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान अठारह दोषो से रहित परमात्म स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अठारह दोषों से रहित परमात्म स्वरूप है।

(इसप्रकार विकल्परुप तथा भक्तिस्वरुप निश्चय ध्यान का स्वरूप समाप्त हुआ। अब आगे निश्चय रुप सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान को कहते हैं।)

ज्ञानावरणादि मूलोत्तरूप सकलकर्म विनिर्मुक्तोऽहम् ।।१।।

अर्थ - सिद्ध भगवान के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा ज्ञानावरण आदि आठ मूलप्रकृति और एक सौ अडतालीस उत्तरप्रकृति रूप समस्त कर्मों से सर्वथा रहित है।

सकलविमल केवलज्ञानादि गुणसमेतोऽहम् ।।२।।

अर्थ - भगवान सिद्ध परमेष्ठी के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा अत्यन्त निर्मल ऐसे केवलज्ञान आदि समस्त गुणों से सुशोभित है।

निष्क्रिय टंकोत्कीर्ण ज्ञायकैक स्वरूपोऽहम् ।।३।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी समस्त क्रियाओं से रहित टकोत्कीर्ण अर्थात् टाकी से उकेरे हुए पुरुषाकार के समान समस्त पदार्थों को जानने वाले ज्ञायक स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी समस्त क्रियाओं से रहित टकोत्कीर्ण के समान समस्त पदार्थों को जानने वाला ज्ञायक स्वरूप है।

किंचिन्न्यूनान्त्य चरमशरीर प्रमाणोऽहम् ।।४।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों की आत्मा का आकार अंतिम चरम शरीर से कुछ कम होता है। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा का आकार भी चरम शरीर से कुछ कम आकार वाला है।

अमूर्तोऽहम् ॥५॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अमूर्त है।

अखंड शुद्ध चिन्मूर्तोऽहम् ॥६॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान अखड अत्यत शुद्ध ऐसे केवल चैतन्य स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अखड और अत्यन्त शुद्ध केवल चैतन्य स्वरूप है।

निर्व्यग्र सहजानंद सुखमयोऽहम् ॥७॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी सब तरह की व्यग्रता व आकुलता से रहित केवल शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक आनदमय सुखस्वरूप हैं। उसी प्रकार यह शुद्ध आत्मा भी आकुलता रहित स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले आत्मजन्य सुख स्वरूप है।

शुद्धजीव घनाकारोऽहम् ॥८॥

अर्थ - जिस पकार सिद्धो की आत्मा लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई लिए हुए घनाकार रूप है। इसी प्रकार मेरी भी यह शुद्ध आत्मा घनाकार रूप है।

नित्योऽहम् ॥९॥

अर्थ - सिद्धों के समान मैं भी सदाकाल रहने वाला नित्य हूँ, अविनाशी हूँ।

निष्कलंकोऽहम् ॥१०॥

अर्थ - सिद्धों के समान मै भी समस्त कर्ममलरूपी कलकों से रहित निष्कलक हूँ।

ऊर्ध्वगति स्वभावोऽहम् ॥११॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी स्वाभाविक उर्ध्वगति स्वभाव होने से लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हुए हैं। उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्व या ऊपर की ओर ही गमन करने वाला मेरा स्वभाव है।

जगत्त्रयपूज्योऽहम् ॥१२॥

अर्थ - सिद्धो के समान मेरी आत्मा भी तीनो जगत के व्दारा पूज्य है।

लोकाग्रनिवासोऽहम् ॥१३॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान लोक शिखर पर विराजमान हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी लोक शिखर पर ही विराजमान है।

त्रिजगद्वंदितोऽहम् ॥१४॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी तीनो लोकों के द्वारा वंदनीय हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय है।

अनंतज्ञान स्वरूपोऽहम्।।१५।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्त केवलज्ञान को धारण करने वाली अनन्त ज्ञानमय है।

अनंतदर्शन स्वरूपोऽहम्।।१६।।

अर्थ - सिद्धों के समान मैं भी अनन्तदर्शन स्वरूप हूँ।

अनंतवीर्य स्वरूपोऽहम्।।१७।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनत वीर्य या अनन्त शक्ति को धारण करने वाली है।

अनन्तसुख स्वरूपोऽहम्।।१८।।

अर्थ - सिद्धों के समान मैं भी अनन्त सुखमय हूँ।

अनन्तगुण स्वरूपोऽहम्।।१९।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्त गुणों को धारण करने वाली है।

अनन्तशक्ति स्वरूपोऽहम्।।२०।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्त शक्ति को धारण करने वाली है।

अनन्तानन्त स्वरूपोऽहम्।।२१।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान अनन्तान्त गुणों को धारण करने से अनन्तानन्त कहलाते हैं। अथवा अनन्तानन्त काल तक रहने के कारण अनन्तानन्त कहलाते है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्तानन्त गुणों को धारण करने वाला या अनन्तानन्त काल तक रहने वाला है, इसलिए मै अनन्तानन्त हूँ।

निर्वेदा स्वरूपोऽहम्।।२२।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी स्त्रीलिंग पुल्लिंग नपुसकलिंग - इन तीनों से रहित हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी तीनो लिंगों से रहित परमानन्दमय है।

निर्मोह स्वरूपोऽहम्।।२३।।

अर्थ - सिद्धो के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी मोह से सर्वथा रहित है।

निरामय स्वरूपोऽहम् ॥२४॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी समस्त रोगो से रहित है।

निरायुष्क स्वरूपोऽहम् ॥२५॥

अर्थ - सिद्धो के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी आयुकर्म से सर्वथारहित है।

निरायुधः स्वरूपोऽहम् ॥२६॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी सब प्रकार के आयुधो से रहित है।

निर्नाम स्वरूपोऽहम् ॥२७॥

अर्थ - सिद्धो के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी नामकर्म से सर्वथा रहित है।

निर्गोत्र स्वरूपोऽहम् ॥२८॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी गोत्र कर्म से सर्वथा रहित निर्गोत्र स्वरूप है।।

निर्विघ्न स्वरूपोऽहम् ॥२९॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अन्तरायकर्म से सर्वथा रहित निर्विघ्नस्वरूप है॥

निर्गति स्वरूपोऽहम् ॥३०॥

अर्थ - सिद्धो के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी चारों प्रकार की गतियों से सर्वथा रहित है॥

निरिन्द्रिय स्वरूपोऽहम् ॥३१॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी पाँचो प्रकार की इन्द्रियों से सर्वथा रहित है॥

निष्काय स्वरूपोऽहम् ॥३२॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी शरीर से सर्वथा रहित अशरीरी है।

निर्योग स्वरूपोऽहम् ॥३३॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी मन, वचन, काय इन तीनों योगों से रहित है।

निजशुद्धात्मस्मरण निश्चयसिद्धोऽहम् ॥३४॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान अपनी शुद्ध आत्मा के स्मरण के विषयभूत निश्चय सिद्ध स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अपनी ही शुद्ध आत्मा के स्मरण के विषय भूत निश्चय सिद्ध है।

परमज्योति स्वरूपोऽहम्॥३५॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान केवलज्ञान तथा केवलदर्शन रूप परम ज्योति स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को धारण करने वाली परम प्रकाशमय ज्योतिस्वरूप है।

निज निरंजन स्वरूपोऽहम्॥३६॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों की आत्मा ज्ञानावरणादि समस्त कर्मरूपी अजन व मल से रहित है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अपने समस्त कर्मों से रहित निरजन स्वरूप है।

चिन्मय स्वरूपोऽहम्॥३७॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान चैतन्यमय ज्ञान-दर्शन स्वरूप हैं। उसी प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा को धारण करने वाला मैं भी अनतज्ञान और अनतदर्शन स्वरूप हूँ।

ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम्॥३८॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान अनत केवलज्ञान और अनत सुख स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनत केवलज्ञान ओर अनन्त सुखमय है।

(इस प्रकार निश्चय रुप से सिद्ध उपयोगी परमेष्ठी का ध्यान समाप्त हुआ। अब आगे आचार्य उपाध्याय साधु पद की प्राप्ति के लिए अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यान का वर्णन करते हैं।)

स्वरूपोऽहम्॥१॥

अर्थ - आचार्य परमेष्ठी व्यवहार और निश्चय दोनों नयो के जानकार होते हैं। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार - इन पाँचो आचारों का स्वय पालन करते हैं और अन्य मुनि समुदाय से पालन कराते हैं। उनके परिणाम परमोत्कृष्ट दयारूपी रस से भीगे रहते हैं। यह ससारी प्राणी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव - इन पाँचो प्रकार के ससार मे परिभ्रमण किया करता है। इसलिए ये पाँचो ससार, एक महासागर के समान है। इस ससार रूपी महासागर से पार करने के लिए वे आचार्य परमेष्ठी एक जहाज के समान हैं। उन आचार्यों को अपने समस्त कर्मों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वभाव ही प्रिय है। तथा वे आचार्य चारों वर्णों को यथेष्ट अपने-अपने मार्ग में चलाने के लिए चक्रवर्ती महा सम्राट के समान हैं।

इस प्रकार जो यह आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा है, उसी प्रकार ऊपर लिखे समस्त गुणों से सुशोभित मेरा यह शुद्ध आत्मा है। इसलिये मैं भी आचार्य परमेष्ठी स्वरूप ही हूँ।

निज नित्यानन्ददैकतत्त्व भाव स्वरूपोऽहम्॥२॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी अपने आत्मा में सदा काल रहने वाले आनन्दमय जीव के एक जीवत्व भाव को धारण करते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अपने आत्मा मे सदा काल रहने वाले आनन्दमय एक जीवत्व को धारण करने वाली है।

सकल विमल केवलज्ञान स्वरूपोऽहम्॥३॥

अर्थ [illegible] अरहंतदेव के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी निर्मल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन - इन दोनों अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन को पूर्ण रूप से धारण करने वाली है।

दंडत्रय खंडिताखंड चितिपिंड स्वरूपोऽहम्॥४॥

अर्थ - जिस प्रकार भगवान अरहंतदेव मनोदंड, वचनदंड और कायदंड - इन तीनो को खंडित करने वाले [illegible] अखंडित चैतन्य के समस्त गुणो के पिंड रूप है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी तीनों दंडों को खंडित करने वाली एक चैतन्य स्वरूप है अथवा चैतन्य के समस्त गुणों के पिंड स्वरूप है।

चतुर्गति संसार दूर स्वरूपोऽहम्॥५॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहंत भगवान का स्वरूप चारों गतियों में परिभ्रमण रूप संसार से सर्वथा दूर है, भिन्न है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी चतुर्गति रूप संसार से सर्वथा दूर है।

निश्चय पंचाचार स्वरूपोऽहम्॥६॥

अर्थ - जिस [illegible] आचार्य परमेष्ठी निश्चयरूप पंचाचार को पालन करनेवाली है इसलिए मैं निश्चय पंचाचारमय हूँ।

भूतार्थ षडावश्यक स्व[illegible]ोऽहम्॥७॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी निश्चय रूप छह आवश्यको को पालन करते हैं। उसी प्रकार मेरी भी यह शुद्ध आत्मा निश्चय रूप छह आवश्यकों को पालन करती है। इसलिए मैं भी निश्चय छह आवश्यकरूप हूँ।

सप्तभय विप्रमुक्त स्वरूपोऽहम्॥८॥

अर्थ - आचार्य परमेष्ठी के समान मेरी भी यह शुद्ध आत्मा सातों प्रकार के भय से रहित है, निर्भय रूप है।

विशिष्टाष्ट गण पुष्ट स्वरूपोऽहम्।।९।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, अनन्त वीर्य, परम सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाध, अगुरुलघु - इन आठों गुणों से सदाकाल परिपुष्ट रहते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी ऊपर लिखे आठों गुणो से सदाकाल पुष्ट रहती है। इसलिए मैं भी इन गुणों गुणमय हूँ।

नव केवललब्धि स्वरूपोऽहम्।।१०।।

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक चारित्र, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ और क्षायिक वीर्य - इन नौ लब्धियों से सुशोभित रहते हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी ऊपर लिखी नौ लब्धियों से - केवलज्ञान के साथ रहने वाली नौ लब्धियों से सुशोभित रहता है।

अष्टविध कर्मकलंक रहित स्वरूपोऽहम्।।११।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी कलक से सर्वथा रहित है।

अष्टादश दोषरहित स्वरूपोऽहम्।।१२।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित है। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी अठारहों दोषों से रहित है। (भूख, प्यास, जन्म, मरण, बुढ़ापा, भय, आश्चर्य, राग, द्वेष, मोह, गर्व, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिता, स्वेद या पसीना रोग - ये अठारह दोष कहलाते है।)

सप्तनय व्यतिरिक्त स्वरूपोऽहम्।।१३।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप किसी नय से नहीं कहा जा सकता। वह प्रमाण या केवलज्ञान गोचर है, उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी समस्त नयों के कथन से भिन्न है, केवलज्ञान रूपी प्रमाण के गोचर है।

निश्चयव्यवहार अष्टविध ज्ञानाचार स्वरूपोऽहम्।।१४।।

अर्थ - ज्ञानाचार आठ प्रकार है शब्द का जानना, अर्थ का जानना, दोनों का जानना, विनयपूर्वक पढना, पढे हुए को धारण करना, अच्छे समय मे पढना, शास्त्र को उच्च स्थान देकर पढना, गुरू का नाम नहीं छिपाना - यह आठो प्रकार का ज्ञानाचार निश्चय रूप भी है और व्यवहार रूप भी है। जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी इन सबको जानते हुए ज्ञानस्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी निश्चय-व्यवहार रूप आठों प्रकार के ज्ञानाचार को धारण करने वाला ज्ञानाचार स्वरूप है।

अष्टविध दर्शनाचार स्वरूपोऽहम् ॥१५॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी सम्यग्दर्शन के निशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अगों को निश्चयरूप से पालन करते हुए दर्शनाचार स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी ऊपर लिखे आठों प्रकार के दर्शनाचार को पालन करता हुआ दर्शनाचार स्वरूप है।

द्वादशविध तप आचार स्वरूपोऽहम् ॥१६॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी अन्तरग-बहिरग के भेद से बारह प्रकार के तपश्चरण को पालन करते हुए तपश्चरण स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी बारह प्रकार के निश्चय तपश्चरण को पालन करता हुआ तप आचार स्वरूप हैं।

पंचविध वीर्याचार स्वरूपोऽहम् ॥१७॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी की शुद्ध आत्मा मे पाँचो प्रकार का वीर्याचार सुशोभित है। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा में भी पाँचो प्रकार का वीर्याचार विद्यमान है।

वीर्याचार के पांच भेद

तपश्चरण करने में अपनी शक्ति को प्रगट करना वीर्य का आचार अर्थात् वीर्य का प्रगट करना है, उसके ५ भेद हैं -

१. वीर्य पराक्रम - वीर्य की शक्ति को, पराक्रम को या उत्साह को वीर्य पराक्रम कहते हैं। जो वीर्य पर क्रम उतम हो वह वीर्य क्रम है। यह पहला भेद है।

२ यथोक्तमान - आगम में जिस प्रकार से तपश्चरण करना बतलाया है। उसी प्रमाण से करना उसका उल्लघन न करना यथोक्तमान कहलाता है। जैसे सिक्थ ग्रास चाद्रायण आदि व्रत। जिस विधि या मान से बतलाया है, उसी रूप से करना।

३. कायोत्सर्ग विधि - अपने-अपने अपराध के अनुसार नौ बार छतीस बार पच नमस्कार मत्र जपना आदि बतलाया है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग रूप है।

४ स्वभाविक शक्ति बल, काल, क्षेत्र, आहार आदि साधनों के अनुसार अपनी स्वाभाविक शक्ति के अनुसार तपश्चरण करना।

५ पराक्रम - आगम में जो उत्कृष्ट अनुक्रम बतलाया है, उसी के अनुसार करना, आचार्य परम्परा के अनुसार जो परिपाटी चली आई है, उसी के अनुसार तपश्चरण करना। यथा सबसे पहले मूलगुणों का पालन करना चाहिये, तदनन्तर

उत्तरगुणों का अनुष्ठान करना चाहिये।

इस प्रकार पाँच प्रकार के वीर्याचार को प्रगट कर तपश्चरण करना पाँच प्रकार का वीर्याचार कहलाता है।

त्रयोदशविधचारित्राचार स्वरूपोऽहम्॥१८॥

अर्थ - जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी पाँच प्रकार के महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियो को पालन करते हुए चारित्राचार स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी निश्चयरूप तेरह प्रकार का चारित्र पालन करता हुआ निश्चय चारित्र स्वरूप है।

क्षायिकज्ञान स्वरूपोऽहम्॥१९॥

अर्थ - अरहत व सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी क्षायिकज्ञान या केवलज्ञान स्वरूप है।

क्षायिकदर्शन स्वरूपोऽहम्॥२०॥

अर्थ - अरहत व सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी क्षायिकदर्शन या केवलदर्शन स्वरूप है।

क्षायिकचारित्र स्वरूपोऽहम्॥२१॥

अर्थ - अरहत व सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी क्षायिकचारित्रस्वरूप है।

क्षायिकसम्यक्त्व स्वरूपोऽहम्॥२२॥

अर्थ - अरहत व सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी क्षायिक परम शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूप है।

क्षायिक पंचलब्धि स्वरूपोऽहम्॥२३॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत भगवान क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य - इन पाँचों क्षायिक लब्धियो से सुशोभित हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी ऊपर लिखी पाँचो क्षायिक लब्धियों से सुशोभित है।

परमशुद्ध चिद्रूप स्वरूपोऽहम्॥२४॥

अर्थ - जिस प्रकार अरहत व सिद्ध भगवान की आत्मा परम शुद्ध चैतन्यमय है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी परम शुद्ध चैतन्यमय है।

विशुद्ध चैतन्य स्वरूपोऽहम्॥२५॥

अर्थ - भगवान अरहत व ।सिद्धों के समान . .। यह अत्यन्त शुद्ध आत्मा भी अत्यन्त विशुद्ध ज्ञानदर्शनमय चैतन्य स्वरूप है।

शुद्ध चित्काय स्वरूपोऽहम् ।।२६।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के एक परम शुद्ध चेतना ही शरीर है। अन्य पौद्गलिक शरीर नहीं है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी पुद्गल शरीर रहित अत्यन्त शुद्ध चैतन्यमय शरीर को धारण करता है।

निज जीवतत्व स्वरूपोऽहम् ।।२७।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अपने केवल जीवरूपी तत्त्वस्वरूप है, अन्य तत्त्वस्वरूप नहीं है।

निज जीवपदार्थ स्वरूपोऽहम् ।।२८।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा ऊपर लिखे अनुसार केवल जीव-पदार्थ रूप है।

शुद्ध जीवद्रव्य स्वरूपोऽहम् ।।२९।।

अर्थ - जीव द्रव्य का जो परम शुद्ध स्वरूप है, वहां स्वरूप मेरी शुद्ध आत्मा का है।

शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूपोऽहम् ।।३०।।

अर्थ - परम शुद्ध जीवास्तिकाय का जैसा स्वरूप है, वैसा ही मेरी शुद्ध आत्मा का शुद्ध जीवास्तिकाय रूप ही स्वरूप है।

अखंडशुद्धज्ञानैक स्वरूपोऽहम् ।।३१।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध भगवान का स्वरूप अखड परम शुद्ध एक केवलज्ञानमय है। उसी प्रकार मेरी इस शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी अखड शुद्ध एक केवलज्ञानमय है।

स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन स्वरूपोऽहम् ।।३२।।

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप स्वभाव से केवल शुद्ध आत्मा से होने वाले केवलज्ञान केवलदर्शनमय है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी स्वभाव से होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनमय है।

अन्तरंग रत्नत्रय स्वरूपोऽहम् ।।३३।।

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अपने अतरग में अपनी शुद्ध आत्मा में रत्नत्रय स्वरूप है।

अनन्तचतुष्टय स्वरूपोऽहम् ॥३४॥

अर्थ - अरहत व सिद्ध के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अनन्तचतुष्टय स्वरूप है।

पंचमभाव स्वरूपोऽहम् ॥३५॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी पचमभाव अर्थात् केवल जीतत्व भाव स्वरूप है अन्य चारों प्रकार के भावों से रहित है।

नयं निक्षेप-प्रमाण-विदूर स्वरूपोऽहम् ॥३६॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप न नयों के गोचर है, न निक्षपों के गोचर है, और न किसी प्रमाण के गोचर है, वह वचनातीत है। उसी प्रकार मेरी शुद्ध आत्मा भी नय-निक्षेप-प्रमाण आदि के कथन से सर्वथा भिन्न वचनातीत है।

सप्तभय विप्रमुक्त स्वरूपोऽहम् ॥३७॥

अर्थ - सिद्धों के समान मेरी यह शुद्ध आत्मा भी सातो प्रकार के भयों से सर्वथा रहित है।

अष्टविध कर्मनिर्मुक्त स्वरूपोऽहम् ॥३८॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित है। उसी प्रकार मेरी इस परम शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी आठों कर्मों से सर्वथा रहित है।

अविचलित शुद्ध चिदानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३९॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप जो कभी भी विचलित न हो सके, चलायमान न हो सके - ऐसे शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी कभी भी चलायमान न हो सके - ऐसे शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है। इस लोक का भय, परलोक का भय, मरने का भय, अरक्षाभय, गुप्तिभय, आकस्मिक भय। ये सात भय कहलाते हैं। परन्तु मेरी यह शुद्ध आत्मा शुद्ध चैतन्यमय और परम आह्लाद व सुख रूप है।

अद्वैत परमाह्लाद सुख स्वरूपोऽहम् ॥४०॥

अर्थ - जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी जो किसी अन्य में न पाया जाय - ऐसे परम आनन्द व सुख स्वरूप है। उसी प्रकार मेरी यह परम शुद्ध आत्मा भी जो अन्य किसी में भी न पाया जाय - ऐसे अद्वैत परमाह्लाद रूप सुखमय है।

इत्यादि स्वशुद्धात्मस्वरूपे निश्चलावस्थानं निर्विकल्प कण स्मरणं सर्वसाधु पदप्राप्त्यर्थ स्वशुद्धात्म ध्यानम्।।

इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधु - इन तीनों परम पद की प्राप्ति के लिए अपनी शुद्ध आत्मा मे सदा काल निश्चल रूप से रहने वाले और सब प्रकार के विकल्पों से रहित निर्विकल्प गुणों के स्मरण स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यान का स्वरूप करने वाला यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

★ ★ ★

श्री चतुर्थजात्युद्भवमाघनंदि आचार्यकृत शास्त्रसारसमुच्चये ध्यानप्रकरणम्।

इस प्रकार चतुर्थ जाति में उत्पन्न होने वाले आचार्य माघनंदि कृत शास्त्रसार समुच्चय मे ध्यान का प्रकरण समाप्त हुआ।

इसकी यह हिंदी टीका आदि पुराण आदि अनेक सस्कृत ग्रथों के टीकाकार "धर्मरत्न" "सरस्वती दिवाकर" प लालाराम शास्त्री ने की है।

मंगल प्रार्थना

अरिहत मेरा देव है,
सच्चा वो वीतराग है।।
सारे जग को जानें है,
मुक्तिमार्ग दिखावे है ।। अरिहत ।।
जहॉ सम्यक् दर्शन ज्ञान है,
चारित्र वीतराग है
ऐसा मुक्तिमार्ग है,
जो मेरे प्रभु दिखाते है ।। अरिहत ।।
अरिहत तो शुद्धात्मा है,
मै भी उन ही जैसा हूँ।
अरिहत जैसा आत्मा जान,
मुझे अरिहत होना है ।। अरिहत।।

परद्रव्यों से राग तोड़ दें ....

परद्रव्यों से राग तोड दे, राग बन्ध का मूल है।
इन्द्रादिक सुर चक्रवर्ती पद, तो पुण्यों की धूल है।। टेक ।।

जीव राग के कारण ही भटक रहा ससार में।
मोह ममत्व भाव से देखो अटक रहा व्यवहार में।
निश्चय का उपदेश न पाया, बहता भव मझधार में।
निज वैभव की लेश न चिन्ता ,रुचि है पर के प्यार में।
कर्म चेतना सदा सुहाती, जो निज के प्रतिकूल है।।

पर से अपनापन माना है, निज से करता द्वेष है।
निरावरण निज रूप न समझा, धारा पुद्गल वेश है।
शुद्धातम बहुमान नहीं है, निज का मान न लेश है।
स्वय अनन्त सौख्य का धारी, ज्ञान मूर्ति परमेश है।
ज्ञान चेतना का अधिपति है, जो निज के अनुकूल है।।

राग मात्र को हेय समझ ले, निज स्वभाव में रम जा तू।
अपनी शुद्धातम की महिमा, ज्ञान स्वयं में थम जा तू।
आत्मस्वरूप का निर्णय कर के, निज स्वरूप में जम जा तू।
पर का मनन छोडकर अपने, आत्म देव को नम जा तू ।
पाप और पुण्य शुभाशुभ आस्रव की रुचि ही तो शूल है।।

बध अभाव अगर करना है, तो तू राग अभाव कर।
निज आतम अनुभव रस पीने, सिद्ध-स्वपद का चाव भर।
भेद-ज्ञान विज्ञान ज्योति से, दुःखमय सकल विभाव हर।
है उपाय पुरुषार्थ सिद्धि का, ज्ञायक सहज स्वभाव वर।
राग सदा ससार मार्ग है, मोक्ष मार्ग में भूल है।।

बड़ा अचंभा लगता जो तू ....

बडा अचंभा लगता जो तू अपने से अनजान है ।
पर्यायों के पार देख ले आप स्वयं भगवान है।। टेक ।।

मन्दिर तीरथ जिनेन्द्र जिनागम उसकी खोज बताते हैं।
जप तप संयमशील साधना में उसको ही तो ध्याते है।
जब तक उसका पता न पाया दुनिया में भरमाते है।
चारों गतियों के दुख पाकर फिर निगोद में जाते है।
पर्यायों को अपना माना यह तेरा अज्ञान है।।

तू अनन्त गुण का धारी है अजर अमर सत अविनासी।
शुद्ध बुद्ध तू नित्य निरजन मुक्ति सदन का है वासी।
तुझमें सुख साम्राज्य भरा क्यों मीन रहे जल में प्यासी।
अपने को पहचान न पाया ये है भूल तेरी खासी।
तू अचिंत्य शक्ति का धारी तू वैभव की खान है।।

तीनों कर्म नहीं तेरे में यह तो जड की माया है।
तू चेतन है ज्ञानस्वरूपी क्यों इनमें भरमाया है।
सुख की सरिता है स्वभाव में जिनवर ने बतलाया है।
जिसने अन्तर में खोजा है उसने प्रभु को पाया है।
जिनवाणी माँ जगा रही है क्यों व्यर्थ बना नादान है।।

नव तत्वों में रहकर जिसने अपना रूप नहीं छोडा।
आतम एक रुप रहता है नहीं अधिक ना ही थोडा।
ये पर्यायें क्षणभंगुर हैं इनका तेरा क्या जोडा।
शुद्ध बुद्ध बन जाता जिसने पर्यायों से मुख मोडा।
द्रव्यदृष्टि अपना कर प्राणी बन जाता भगवान है।।

आशाओं का हुआ खातमा ....

आशाओं का हुआ खातमा, दिली तमन्ना धरी रही।
बस परदेशी हुए रवाना, काया प्यारी पडी रही।।

करना-करना आठों पहर ही, मूरख कूक लगता है।
मरना-मरना मुझे कभी नहीं, लफ्ज जबाँ पर लाता है।
पर सब ही हैं मरने वाले, शान किसी की नहीं रही।।

एक पडितजी, पत्रिका लेकर, गणित हिसाब लगाते थे।
समय काल तेजी मंदी की, होनहार बतलाते थे।
आया काल चले पंडितजी, पत्री कर में धरी रही।।

एक वकील आफिस में बैठे, सोच रहे यों अपने दिल।
फलाँ दफा पर बहस करुंगा, पाइट मेरा बडा प्रबल।
इधर कटा वारट मौत का, कल की पेशी पडी रही।।

एक साहब बैठे दुकान पर, जमा खर्च खुद जोड रहे।
इतना लेना इतना देना, बडे गौर से खोज रहे।
काल बली की लगी चोट, जब कलम कान में टकी रही।।

इलाज करने को इस राजा का, डाक्टर जी तैयार हुए।
विविध दवा औजार साथ ले, मोटर कार सवार हुए।
आया वक्त उलट गई मोटर, दवा बॉक्स में भरी रही।।

जैंटिलमैन घूमने को एक, वक्त शाम को जाता था।
पाँच चार थे दोस्त साथ में, बातें बडी बनाता था।
लगी जो ठोकर गिरे बाबूजी, लगी हाथ में घडी रही।।

हा-हा कितना करूं बयाँ, इस दुनिया की है अजब गति।
भैया आना और जीना है, फर्क नहीं है एक रति।
समकित प्राप्त किया है जिसने, बस उसकी ही खरी रही।।